



सैद्धान्तिक
अनुशीलन

सैध्दान्तिक अनुशीलन

मानव एक जिज्ञासु प्राणी है सृष्टि के प्रारंभ काल से आज तक तर्कों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं आप्त वचनों के आधार पर जानने की चेष्टा करता आ रहा है, मनुष्य का जिज्ञासु मन ही पूर्वजों द्वारा संचित ज्ञानकोष का प्रत्यक्ष, अनुमान एवं युक्ति के द्वारा अन्वेषण कर ऐतिह्य के सत्य एवं असत्य का ज्ञान करता है, इस प्रकार ऐतिह्य के ज्ञान से नवीन एवं समुन्नत अन्वेषण का मार्ग प्रशस्त होता है।

सृष्टि के आदि काल से ही मनुष्य अनेक रोगों से पीड़ित होता रहा है एवं पीड़ा या वेदना को शमन करने के उपाय की सृष्टि रचना के साथ ही इन व्याधियों के निवारणार्थ अनेक द्रव्यों की उत्पत्ति की है, किन्तु प्रत्येक व्याधि का एवं उसके निराकरण में उपयोगी द्रव्य का ज्ञान प्रारंभ से ही होकर परिवर्तनशील प्रकृति के अनुसार समय-समय पर होता रहा है, इसी क्रम में किस व्याधि का सर्वप्रथम ज्ञान किस काल में हुआ एवं उसके निवारणार्थ द्रव्य का ज्ञान किस युग काल में सर्वप्रथम हुआ इसका विवेचन करना ऐतिहासिक विषय है। इसी का परिपेक्ष में आमवात व्याधि का ज्ञान चिकित्सा जगत के कार्यो को कब हुआ एवं इस ज्ञान के निरंतर अनुसंधान के परिणाम स्वरूप विकास किस क्रम में होता गया, इसका विवेचन करना ऐतिहासिक अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है।

ऐतिहासिक अध्याय को क्रमानुसार प्रस्तुत करने की दृष्टि से इतिहास को निम्न कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है :-

1. वैदिक काल (ईसा से 6000 वर्ष पूर्व)
2. पौराणिक काल (ईसा के 1500 से 1000 वर्ष पूर्व तक)
3. संहिता काल (ईसा के 1000 से 200 वर्ष पूर्व तक)
4. संग्रह काल (200 ई.पू से 1800 ई.पू पश्चात तक)
5. आधुनिक काल (1800 ई. से आज तक)

1. वैदिक काल – (ईसा से 6000 वर्ष पूर्व)

वेद, विश्व के इतिहास में प्राचीनतम ग्रन्थ के रूप में माने जाते हैं, ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के अध्ययन से हमें आयुर्वेदीय सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है। आमवात के

परिपेक्ष्य में वेदों का अवलोकन करने पर आमवात व्याधि का उल्लेख किसी भी वेद में प्राप्त नहीं होता है अपितु वात का स्वतंत्र दोष के रूप में उल्लेख अनेक स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। इन्हीं ग्रन्थों में आम का भी स्वतंत्र रूप से यत्र तत्र उल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त आम शब्द से ही संबंधित अन्य शब्द –

आमवात – ऋग्वेद 19/114/41

अमावत – ऋग्वेद 10/86/231

आमय – अथर्व वेद – पिप्लाद 19/15/5

अमायम् – अथर्व वेद – पिप्लाद 19/55/7

का वर्णन मिलता है, साथ ही ऋग्वेद और अथर्ववेद में “ग्राही” शब्द का उल्लेख मिलता है, जो कि आमवात का समानार्थक मालूम पड़ता है।

अथर्ववेद में आया है कि – हें दशवृक्ष जिस रोग ने इसको जोड़ों ने जकड़ रखा है (पर्वसु जाग्रह) ऐसे राक्षस की तरह जकड़ने वाले ‘ग्राही’ रोग की पीड़ा से छुड़ा दे, हे औषधि इसको जीवित लोगों के स्थान में जाने योग्य बना कर ऊपर उठा।

“दशवृक्षमुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्यामधियौनं जाग्राहपर्वसु।

अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्मय।। (अ.वे. 2/9/1)

यहाँ पर राक्षस शब्द प्रिय अर्थात् रक्तदुष्टिजन्य रोग का सूचक है, दशवृक्ष से दशमूल लेने का अनेक विद्वानजनों का मतव्य है।

उपनिषद एवं ब्रह्मण ग्रन्थों में आमवात व्याधि का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

2. पौराणिक काल – (1500 ई.पू. से 1000 ई.पू. तक)

शास्त्रों में 18 प्रकार के पुराणों का उल्लेख है जिनमें से अग्नि पुराण, गरुड, पुराण, ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में ही आयुर्वेद के विषयों का वर्णन विशेष रूप से मिलता है लेकिन पुराणों में संबंधित वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

3. संहिता काल – (1000 ई.पू. से 200 ई.पू. तक)

वैदिक एवम् पौराणिक काल के बाद आयुर्वेद इतिहास की दृष्टि से संहिताकाल आता है। इस काल में आयुर्वेद विषय को मुख्य आधार मानकर अनेक संहिताओं का प्रतिपादन हुआ। इस काल में उपलब्ध संहिताओं में चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, काश्यप संहिता, हरीत संहिता एवं भैल संहिता प्रमुख है।

चरक संहिता – (200 ई. पू.)

चरक संहिता आत्रेय सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रंथ माना जाता है। जिसमें कायचिकित्सा का मुख्य रूप से प्रतिपादन हुआ है। चरक संहिता में विभिन्न स्थानों पर आम का उल्लेख है। विरुद्ध आहार सेवन से आमविष की उत्पत्ति बतायी है। आमोत्पादक हेतुओं का विस्तृत वर्णन, आमोत्पादक हेतुओं में अतिमात्रा में आहार सेवन के साथ-साथ मानसिक कारणों का भी समावेश किया है। जिसे आधुनिक विज्ञान भी मानता है।

१. चरक संहिता में वातव्याधि प्रकरण में 'आमवात' शब्द का उल्लेख मिलता है।

प्रमेहवातमेदोघ्नीमामवाते प्रयोजयेत्।

स्नेहाश्च्यंगवस्त्रक्षीर स्नेहा मांसावृत्ते हिताः॥ च.चि. २८।१९५

२. 'श्वयथु' चिकित्सा प्रकरण में कंसहरीतकी की फलश्रुति में 'आमवात' नाम से व्याधि का उल्लेख मिलता है।

द्वि पंचमूलव्य पचेत् कषाये

..काश्यामवातासृगम्लपित्त वैवर्ष्य मूत्रानिलशुक्रदोषान्। च.चि. १२।५०-५२

३. 'पाण्डु रोग' चिकित्सा अध्याय में 'आमवात' में विशालादि चूर्ण का प्रयोग बतलाया है।

विशालात्रिफलामुस्त कुष्ठदाकक लिंगकान

गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च नाशयेत्। च.चि. १६।६१-६२

सुश्रुत संहिता व काश्यप संहिता –

आमवात व्याधि का स्वतंत्र रूप से कहीं उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु आम एवं वात का पृथक-पृथक वर्णन अनेक स्थलों पर विस्तृत रूप से दृष्टिगोचर होता है। सुश्रुत टीकाकार डल्हण में मेदस्वी व्यक्तियों में दीप्ताग्नि होते हुए भी आमरस की उत्पत्ति बताते हुए धात्वाग्नि का पाचन न होने से आमोत्पत्ति होती है, ऐसा संदर्भ मिलता है।

द्विवास्त्रप्लवसश्च च आम एव अन्नवस्य

..... अपाकान आम इति उच्यते। सु.सू. १५।३७

भैल संहिता –

वर्तमान में उपलब्ध भैल संहिता में कहीं भी आमवात का वर्णन प्राप्त नहीं होता है, किन्तु सूत्रस्थान अध्याय 10 में आम प्रदोष का वर्णन है जो कि आमवात से काफी समानता रखता है।

हारीत संहिता –

वर्तमान में उपलब्ध हारीत संहिता के तृतीय स्थान अध्याय 21 में स्वतंत्र रूप में आमवात के हेतु लक्षण, सम्प्राप्ति, भेद, साध्यासाध्यता, चिकित्सा एवं पथ्यापथ्यादि का वर्णन मिलता है।

4. संग्रह काल – (200 ई.पू से 1600 ई.पू. पश्चात तक)

संहिता काल के बाद संग्रह काल का प्रारंभ होता है, इस काल में स्वतंत्र रचनाओं का निर्माण न होकर पूर्व में रचित चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं के अंशों का संग्रह कर ग्रन्थों का रूप दिया गया। इस काल में कई संग्रह ग्रन्थों का निर्माण हुआ है जिनमें से कुछ अधिक प्रसिद्ध हुये जो इस प्रकार हैं –

नावनीतकम – 4 थी सदी में आमवात का कोई वर्णन नहीं मिलता है

अष्टांग संग्रह (600 ई.) व अष्टांग हृदय (800 ई.) –

आचार्य वाग्भट्ट के अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय में भी आमवात का स्वतंत्र व्याधि के रूप में वर्णन नहीं किया गया है, परन्तु अष्टांगसंग्रह के सूत्रस्थान विविधौषध विज्ञानीय अध्याय में पूर्वी वायु के द्वारा आमवायु (आमवात) का प्रकोप होने का उल्लेख है यथा –

“प्राग्वायुरुष्णोऽमिष्यन्दी त्वग्दोषार्शोविष कृमीन।

सन्निपात ज्वर श्वासमामवायुं च कोपयेत्।।” (अ.सं.सू. 12/95)

इसके अतिरिक्त व्याधि के घटकों आम एवं वात का पृथक-पृथक वर्णन विस्तार से अनेक स्थलों पर मिलता है।

अष्टांगहृदय में चरकसंहिता की भांति ही चिकित्सा प्रकरण में विभिन्न योगों की फल श्रुतियों में आमवात शब्द का उल्लेख किया गया है यथा –

1. पाण्डुरोग चिकित्सा में इन्द्रवारुणी आदि चूर्ण की फलश्रुति में,
पाण्डुरोग ज्वरं दाहं कासं श्वासमरोचकम्।

गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च तज्जयेत्।। (अ.ह.चि. 16/12)

2. वातशोणित चिकित्सा में सामवात चिकित्सा सूत्र का उल्लेख है।

3. उरुस्तंभ चिकित्सा में व्योषदि योग की फलश्रुति में,

व्योषग्निमुस्तत्रिफलाविडंगेर्गुग्गुलुं समम्।

खादन् सर्वान् जयेद् व्याधीन् मेदः श्लेष्मामवातजान।। (अ.ह.चि. 21/50)

माधव निदान –

ई. पश्चात् 7 वीं या 8 वीं सदी में माधवाचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ “रोग विनिश्चय” जो बाद में “माधव निदान” के नाम से प्रसिद्ध हुआ, के पूर्वाद्ध भाग अध्याय 25 में आमवात के निदान सम्प्राप्ति, पूर्वरूप, रूप, प्रबृद्ध आमवात स्वरूप, उपद्रव, भेद एवं साध्यासाध्यता का विस्तृत वर्णन मिलता है उसके बाद की प्रायः सभी रचनाओं में आमवात का वर्णन मिलता है।

माधव चिकित्सित –

इस ग्रन्थ में भी आमवात का स्वतंत्र व्याधि के रूप में वर्णन मिलता है।

वृन्द माधव –

इस ग्रन्थ के आमवाताधिकार अध्याय 25 में आमवात व्याधि का चिकित्सा सूत्र, विभिन्न औषधीय योग एवं अपथ्यों का वर्णन मिलता है।

चक्रदत्त –

11 वीं सदी में चक्रपाणिदत्त द्वारा इस ग्रन्थ में अभूतपूर्व कार्य हुआ। चक्रदत्त में आमवात चिकित्सा अध्याय 25 में आमवात चिकित्सार्थ सामान्यक्रम, अचूक कार्यकारी औषध योग एवं पथ्यापथ्य का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्याधियों के संदर्भ में वर्णित अध्यायों के अन्तर्गत अनेक औषध योगों की फल श्रुतियों में भी आमवात का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत शोध प्रबंध हेतु वृहत सैन्धवादि तेल का चयन इसी ग्रन्थ से किया गया है।

बंगसेन (1300 ई.) –

बंगसेन में आमवात रोगाधिकार अध्याय 26 आमवात को एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में वर्णित किया गया है। आमवात के निदान, सम्प्राप्ति, पूर्वरूप, लक्षण, साध्यासाध्यता चिकित्सा एवं अनेक योगों की फलश्रुतियों में आमवात का उल्लेख है।

शाङ्गधर संहिता – (13 वीं सदी)

इस संहिता में आमवात व्याधि को दोषों के अनुसार चार भेदों – वातिक, पैतिक, कफज एवं सन्निपातिक में विभक्त कर वर्णित किया है।

“चत्वारश्चामवाताः स्युर्वातपित्तः कफैत्रिधा ।

चतुर्थः सन्निपातेन ।। (सा.सं. पू.ख.7/24)

भावप्रकाश – (16 सदी)

भावमिश्र द्वारा रचित “भावप्रकाश” में आमवात का निदान, सम्प्राप्ति, पूर्वरूप, रूप, प्रवृद्धावस्था के लक्षण, उपद्रव, भेद, साध्यासाध्यता, चिकित्सासूत्र, औषधयोग, उपशय तथा पथ्यापथ्य आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है, इसके मध्यखण्ड चिकित्सा प्रकरण में अभ्यान्तर फिरंग रोग के वर्णन में आमवात के समान व्यथा होने का उल्लेख मिलता है यथा – सन्धिश्वाभ्यान्तरः च स्यादामवात् इव व्यथाम्।

शोथजच जनयेदेश कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः॥

रसरत्न समुच्चय – (1300 ई.)

इस ग्रन्थ में आमवात का स्वतंत्र अध्याय के रूप में लक्षण, चिकित्सा एवं पथ्यापथ्य का वर्णन मिलता है, इसके अतिरिक्त अन्य व्याधियों के सन्दर्भ में वर्णित अनेक योगों की फलश्रुतियों में भी आमवात का उल्लेख है।

भैषज्य रत्नावली :-

इस ग्रन्थ में अध्याय 36 में आमवात व्याधि की चिकित्सा का विस्तृत वर्णन मिलता है।

योगरत्नाकर – (1700 ई.)

इस ग्रन्थ में आमवात व्याधि का स्वतंत्र अध्याय के रूप में वर्णन है, इसमें आमवात व्याधि का निदानपूर्वक सम्प्राप्ति, लक्षण, उपद्रव, साध्यासाध्यता, चिकित्सासूत्र विभिन्न योग एवं पथ्यापथ्य का विस्तृत रूप में वर्णन है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर विभिन्न योगों की फलश्रुतियों में आमवात का उल्लेख मिलता है।

5. आधुनिक काल – (1800 ई. से आद्यावधि तक)

आधुनिक काल में आयुर्वेद के अनेक विद्वानों ने आमवात व्याधि के विषय में अपने-अपने विभिन्न निदान चिकित्सात्मक तथ्य प्रस्तुत किये हैं। 18 वीं सदी से वर्तमान तक विद्वानों द्वारा आमवात व्याधि के परिपेक्ष्य में आयुर्वेदीय एवं आधुनिक चिकित्सा दोनों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से निरंतर शोध तथा अन्वेषणात्मक कार्य हुये हैं। इन विद्वानों में श्री गणनाथ सेन, पं. राजेश्वर दत्त शास्त्री, श्री पं. रामनाथ द्विवेदी, श्री धर्मदत्त वैद्य, डॉ. बलवीरदत्त शास्त्री, श्री शिवनाथ खन्ना, डॉ. शिवचरण ध्यानी एवं वैद्य बनवारीलाल गोड़

प्रमुख है। इसके अतिरिक्त अनेक संस्थाओं द्वारा भी आमवात व्याधि पर अनेक वर्षों से शोध कार्य किये जा रहे हैं।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की तुलना में आमवात व्याधि को रूमेटाइड आर्थ्राइटिस माना गया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस व्याधि का प्रथम चिकित्सकीय विमर्श प्रथम शताब्दी में आर्टेयश द्वारा किया गया। दूसरी शताब्दी में गैलन द्वारा रूमेटिज्म शब्द का प्रयोग किया गया उसने संधियों की व्याधियों के लिए आर्थ्राइटिस शब्द का निर्देश दिया।

16 वीं शताब्दी में बैल्लोव ने गाउट से एक्यूट अर्थ्राइटिस अलग बताया। इसके 17 शताब्दी में सायडेनहाम ने रूमेटाइड अर्थ्राइटिस को क्रोनिक एवं एक्यूट दो भागों में विभक्त किया एवं क्रोनिक रूमेटिज्म से गाउट की भिन्नता बताई है।

इसके बाद 1848 में गैराड ने गाउट में यूरिक एसिड की वृद्धि बताई और यह भी बताया कि यूरिक एसिड की अत्यंत वृद्धि रूमेटाइड आर्थ्राइटिस में नहीं होती है। उन्होंने आस्टीयों आर्थ्राइटिस से रूमेटाइड आर्थ्राइटिस की भिन्नता भी बताई है। तत्पश्चात् सम्प्राप्ति मूल व्याधि के नैदानिक चित्रण में थोड़ा सा परिवर्तन हुआ है अभी तक रूमेटाइड आर्थ्राइटिस के निदान के संबंध में बहुत सारी भ्रांतियां थीं लेकिन 1987 में अमेरिकन रूमेटिज्म एसोसियेशन द्वारा रूमेटाइड आर्थ्राइटिस के निदान की दृष्टि से एक सरल पद्धति संशोधित की गयी है, जो कि आज सर्वमान्य है।

आमवात परिचय

आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान में आम का विशेष महत्व है, प्रायशः व्याधियों की उत्पत्ति में आम ही प्रमुख कारण है। आमवात भी आम द्वारा अवरुद्ध वात का परिणाम है। जठराग्नि की अल्पता के कारण उत्पन्न आम जब शरीर में भ्रमण करते हुये श्लेष्मा के स्थान संधियों में पहुंचकर वहां की वायु के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है तब "आमवात" संज्ञक व्याधि की उत्पत्ति होती है।

आयुर्वेद वाग्दंभय में "आमवात" का वर्णन माधवकर ने 7 वीं सदी में किया है, वृहतत्रयी में इस व्याधि का नामतः उल्लेख नहीं मिलता है। परवर्ती आचार्यों चक्रपाणि ने चक्रदत्त में 11 वीं सदी, बंगसेन 12 सदी, शागर्द्धर 13 सदी में उल्लेख मिलता है।

आधुनिक चिकित्सा एवं अन्य चिकित्सा पद्धतियों होम्योपेथी, यूनानी आदि में भी इसका सम्यक उपचार नहीं है, अतः एक तरफ इस व्याधि का उपचार न हो पाना तथा दूसरी तरफ इस व्याधि से ग्रसित रोगियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होना, आज चिकित्सकों के सामने जटिल समस्या बनी हुई है अतः इस व्याधि का निदान एवं चिकित्सा आयुर्वेदीय चिकित्सा सिद्धान्तानुसार करना उचित होगा।

(अ) व्युत्पत्ति :-

1. वाचस्पत्यम् – आमवात पु. (आमोऽपाकं हेतुःवातः)
2. शब्दकल्पद्रुम – आमवात पु. आमोऽपाकं हेतुःवातः
स्वनामख्यात् रोग विशेषः।
3. शब्दस्तोम महानिधि – आमवात पु. आमयति पीडयति,
अम् – णिच् – अच् – कर्म्मः
4. आयुर्वेदीय विश्वकोष – आमवात संज्ञा पु. (स.पु.) एक प्रकार की वातव्याधि

इस व्याधि में आम और वात का सर्वप्रमुख कर्त्तव्य है, अतएव –

आमं च वातं आमवातम्।

या "आमेन सहितं वातं आमवातम्"

ऐसी व्युत्पत्ति हो सकती है।

अर्थात् "आमयुक्तः वातः श्लेष्मस्थानं प्रधावितो एस्मिन् स आमवातः।"

(ब) निरुक्ति –

आमवात आम और वात इन दो शब्दों से मिलकर बना है, आयुर्वेद में आम और वात का अलग – अलग अस्तित्व है, आमवात रोग में आम व वात दोनों प्रकुपित होकर शरीर की विभिन्न संधियों में स्थानासंश्रय करके वहां शूल, वेदना, स्तब्धता, राग और शोथ आदि लक्षणों से युक्त आमवात रोग को उत्पन्न करते हैं।

“आमश्चासौ वातः आमवातः।”

अर्थात् स्व – स्व कारणों से आम और वात के स्वतंत्रतया कोप से आमवात की उत्पत्ति होती है।

“आमेन जनितो वातः आमवातः।

आम से वात की आरब्धता ही आमवात है।

“अर्जीर्णन्नरसो ह्यामः तेन दूषितो वातः आमवातः इति च।” (सि.नि.)

अर्जीर्ण से उत्पन्न अपक्व अन्नरस को आम कहते हैं, और जब यह वात को दूषित करता है, आमवात कहलाता है।

“युगपत्कुपितावन्तस्त्रिक सन्धिप्रवेशकों।”

स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते।” (मा.नि. 25/5)

आम और वात एक साथ प्रकुपित होकर त्रिकादि संधियों में प्रविष्ट हो जाते हैं, और स्तब्धता (जकड़न) उत्पन्न करते हैं, ऐसी व्याधि को आमवात कहते हैं।

(स) पर्याय – विभिन्न भाषाओं में आमवात व्याधि निम्न नामों से जानी जाती है।

हिन्दी – गठिया, गठियावाय

संस्कृत – आमवात (माधव निदान – माधव)

रसवात (सिद्धान्त निदान – गणनाथ सेन)

उर्दु – शदीद गठिया

अरबी – हुम्मा वज् उल्मफासिल

वज् उल् मफासिल हाद् दाउल् मफासिल्

फ्रांस – रुमेटिज्म आर्टीक्युलेरिया एग््यू

अंग्रेजी – रुमेटिक फीवर (Rheumatic fever)

एक्युट रुमेटिज्म (Acute Rheumatism)

रुमेटाइड आथ्राइटिस (Rheumatoid Arthritis.)

(द) संक्षिप्त परिचय –

व्याधियों की गणना अपरिसंख्येय है, उन सभी के नामकरण का शास्त्रों में उल्लेख नहीं मिलता है चरकानुसार –

“न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवास्थितिः।” (च.सू.18/44)

अतएव ऐसी व्याधियों को (जिनका सम्भव नहीं है) के लिए सामान्य नियम यह है –

“रूजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थान नामभिः।” (च.सू.18/42)

“तस्माद्विकार प्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च।

समुत्थान विशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत्।।” (च.सू.18/46)

यहां पर आमवात रोग में आम एवं वात का प्रधान एवं समान रूप से कार्य कर्त्तव्य होता है, इसलिये यह नाम दोषपरक रखा गया है।

इस रोग में आम के द्वारा अवरुद्ध वायु संधियों में विशेषता बड़ी संधि में शोथ और वेदना उत्पन्न करती है, यहाँ पर कोष्ठाग्निमांद्य जनित आम एवं धात्वाग्निमांद्य जनित आम दोनों का महत्व है। अस्थि संधियों में श्लेष्म कफ रहता है। कफ एवं प्रायः समान गुणधर्मी है, रस का मल ही कफ है अतः रस विकृति का अस्थि संधि पर प्रभाव होता है। वायु के द्वारा अस्थि संधियां गतिशील होती हैं। आम के द्वारा वायु की गति अवरोध होकर आम कफ और रस से शोथ और वायु से वेदना की उत्पत्ति होती है। यह आमवात का प्रत्यात्म लक्षण बनता है। धात्वाग्नि विकृति से ज्वर एवं रस विकृति से हृदय विकृति जिसमें हृदगौरव या हृदद्रव भी उत्पन्न होता है। इस तरह आमवात रसज एवं संतर्पणोत्थ संधियों की व्याधि है।

(इ) आम के अंतर्गत अग्नि और स्रोतस का सामान्य परिचय –

आम – अग्नि विवेचन

आयुर्वेद के आठ अंगों में कायचिकित्सा एक प्रधानतम् अंग है एवं कायचिकित्सा का मुख्य उद्देश्य अग्नि की चिकित्सा है –

“जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।

यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वे कायचिकित्सकः।” (शिवनाथ सेन)

कायचिकित्सा के अन्तर्गत आने वाले अधिकांश रोग अग्नि विकृति से ही उत्पन्न होते हैं यह अग्नि विकृति प्रायः मंदता के रूप में ही पायी जाती है, जैसा कि –

“रोगाःसर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि तु।” (वा.नि.12/1)

अग्नि और आम का समवात संबंध है जब अग्नि सम होती है, तब आम की उत्पत्ति नहीं होती है आम का निर्माण मंदाग्नि का ही परिणाम है।

रोगों की चिकित्सा के पूर्व उसकी साम-निरामता का निर्णय परमावश्यक है क्योंकि साम व निराम रोगों के चिकित्साक्रम में भी भिन्नता रहती है। आमवात जैसी व्याधि में आम का विशेष महत्व है, क्योंकि इस रोग में वात के साथ आम का संबंध निरन्तर बना रहता है। प्रायशः सम्पूर्ण रोगों में आम किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। इसलिये रोग का एक पर्याय आमय भी है, इस प्रकार के महत्व को दृष्टिगत रखते हुये सर्वप्रथम आम का विवेचन करना होगा।

व्युत्पत्ति –

आमं, त्रि (आम्यते इषत्पच्यते/आ + कर्मणि घञ्)

पाकरहितं/कांचा इति भाषा/तत् पर्यायः अपक्वं असिद्धि असृतं।

(शब्दकल्पद्रुम)

यहां आम से अपक्व अन्नरस लिया गया है।

“आम (पु.) आम्यते ईषत् पच्यते आ + अम् – कर्माणि घञ्
इषत्पक्वे असिद्धे पाकरहिते।” (वाचस्पत्य)

यहां आम से अपक्व या ईषत् पक्व अन्नरस लिया गया है।

इसके उपरांत संस्कृत साहित्य में आम शब्द का प्रयोग किसी व्यक्ति को, वस्तु को या विकृति को दर्शाने के लिये किया जाता है। इसका प्रयोग पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग में विशेषण के रूप में किया जाता है।

जन सामान्य में आम शब्द का अर्थ कच्चा, अपचित तथा ठीक प्रकार से न पकाया गया होता है परन्तु वैद्यक शास्त्र में इसका अर्थ उन अवस्थाओं से है जो क्षीण कायाग्नि की क्रिया से उत्पन्न होता है।

आम की परिभाषा – विभिन्न आचार्यों के अनुसार आम की परिभाषायें निम्नानुसार हैं।

1. “उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यम पाचितम्।

दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते।।” (अ.ह.सू.13/25)

जठराग्नि के मंद होने से आमाशय में निर्मित विकृत रस नाम की प्रथम धातु की आम कहते हैं।

2. "आमाशयस्थः कायाग्ने दौर्बल्याद् विपाचितः ।
आद्यः आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः ॥" (मधुकोष)
जठराग्नि की दुर्बलता से अविपचित आमाशयस्थ आद्य आहार धातु को आम कहते हैं ।
3. "जठरानल दौर्बल्याद् विपक्वस्तु यो रसः ।
स आम संज्ञको देहे सर्व दोष प्रकोपणः ॥ (मधुकोष)
जठराग्नि दौर्बल्य से अपक्व अन्नरस की संज्ञा आम है ।
4. "आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्नि लाघवात् ।
समूलं सर्व रोगाणामाम इत्यभिधीयते ॥ (मधुकोष)
अग्नि की लघुता (दुर्बलता) आहार का अपक्व रस जो शेष रह जाता है वह आमरस है ।
5. "आममन्नं रसं केचित् केचित्तु मल संचयम् ।
प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिंदां प्रचक्षते ॥ (मधुकोष)
आमाशयस्थ अपक्व अन्नरस ही आम है अथवा कोई-कोई मलसंचय को ही आम कहते हैं । प्रथम दोषदुष्टि को ही आम कहा है ।
6. "अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धिं बहुपिच्छिलम् ।
संदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते ॥" (माधवनिदान)
अविपक्व, असंयुक्त, दुर्गन्धित तथा पिच्छिल द्रव्य जो शरीर में अवयवों की शिथिलता उत्पन्न करता है उसे आम कहते हैं ।
7. "अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम् । (च.चि.15/44)
जठराग्नि दोर्बल्य से आमाशय में जो आहार पूर्ण रूप से नहीं पचता और शुक्त (अम्लीय) बन जाता है वह विष के समान आमरस में परिवर्तित हो जाता है ।
8. "अन्ये दौषेभ्य एवाति दुष्टेभ्योऽन्योन्य मूर्च्छनात् ।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सम्भवम् ॥" (अ.ह.सू.13/26)
जैसे कोदों के संधान से विष की उत्पत्ति होती है ऐसे ही विकृत दोषद्रव्यों के अन्योन्य सम्मूर्च्छन से आम की उत्पत्ति होती है ।
9. "द्रव गुर्वनेकवर्ण हेतुः सर्वरोगाणां स्निग्धपिच्छिलमामां तन्तु मदनवद्धशूलं दुर्गन्धिः ।" (अ.ह.सू.13/28) अरुणदत्त

द्रव, गुरु, अनेक वर्ण युक्त, स्निग्ध, पिच्छिल, तन्तु युक्त, दुर्गन्धित द्रव्य, जो शरीर में वातावरोध कर शूल तथा सर्वरोगों का हेतु रूप है उसे आम कहते हैं।

उपरोक्त विवेचन के परिणाम स्वरूप आम शब्द कहीं आहार धातु कहीं आमरस रस धातु को माना गया है इन परिभाषाओं के अनुसार निम्न द्रव्य आम की श्रेणी में आते हैं –

1. अपाचित अन्न रूप आम
2. अपाचित आहाररस रूप आम
3. अपाचित रस धातुरस रूप आम
4. अपाचित रक्तादि धातु रूप आम
5. प्रथम दोष दुष्टि रूप आम
6. मल संचय रूप आम
7. अविपक्व, असंयुक्त आदि लक्षण युक्त विविध रूप आम
8. आमाशय में संचित अर्जीण अन्न आम
9. आहार का अवशिष्ट रस आम
10. विष लक्षण वाला विशिष्ट दोषजन्य आम

आम का स्वरूप : तंत्रकारों ने आमरस के स्वरूप को निम्न प्रकार से वर्णित किया है – यह आम द्रव, गुरु, अनेक वर्णों वाला, स्निग्ध, पिच्छिल, अपक्व, तन्तुमान, दुर्गन्धयुक्त, निरन्तर शूलयुक्त, समस्त अंगों में साद उत्पन्न करने वाला तथा सर्वरोगों का मूल है।

“द्रवं गुर्वनेकवर्णं हेतु सर्वरोगाणां स्निग्धं पिच्छिलमामं

तन्तुमदनवद्ध शूलं दुर्गन्धिः।” (अ.ह.स.13/28) अरुणदत्त

आम का लक्षण : स्त्रोतो का अवरोध, बलक्षय, शरीर में गौरवता, अनिलमूढता, आलस्य, भोजन का न पचना, लालास्राव एवं निष्ठीवन होना, मलावरोध, भोजन में अरुचि एवं बिना परिश्रम के थकावट। (क्लम) प्रतीत होना, यह साम दोष के लक्षण है।

“स्त्रोतोरोध बलभ्रंश गौरवानिलमूढताः।

आलस्यापक्ति निष्ठीवमलसंगारुचि क्लमाः।।” (अ.ह.स.13/23-24)

साम एवं निराम : आम से संयुक्त मिश्रित वातादि दोष तथा उनसे दूषित हुये रसादि दूष्यो को एवं उनसे उत्पन्न रोगों को “साम” कहा जाता है। इसके विपरीत वातादि दोष और

रसादि दूष्य जब आम रहित हो तब उन्हें तथा उनसे उत्पन्न रोगों को "निराम" कहा जाता है।

“आमेन तेन सम्पृक्तां दोषा दूष्याश्चदूषिताः।

समा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तद् उद्भवाः।। (अ.ह.स.13/27)

आम की उत्पत्ति : आम के निर्माण में अग्नि ही मुख्य कारण है, अग्नि की अल्पता से आम की उत्पत्ति को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है।

1. जठराग्निमांघ से आमोत्पत्ति
2. धात्वाग्निमांघ से आमोत्पत्ति
3. भूताग्निमांघ से आमोत्पत्ति
4. मलसंचय से आमोत्पत्ति

1. **जठराग्निमांघ से आमोत्पत्ति:** आमाशय में जठराग्नि व्यापार द्वारा अन्न के सम्यक जीर्ण होने के पश्चात् निर्मित आहाररस का परिपाक होता है यदि परिपाक की इस प्रक्रिया में आहाररस का जठराग्नि दौर्बल्य के कारण परिपाक नहीं हो पाता है तो यह आहाररस धात्वाग्नि व्यापार की प्रक्रिया में सम्मिलित नहीं हो पाता तथा आमाशय में ही स्थित रहकर आमत्व को प्राप्त हो जाता है इसको ही विद्वानजन अन्नरस रूप आम या आहाररस रूप कहते हैं।

जठराग्नि की इस असम्यक क्रिया से पौषक आहार की उत्पत्ति अल्प हो जाती है और मल की उत्पत्ति अधिक होती है, उत्पन्न आम आमाशय में उपस्थित दोषों की क्रिया से छर्दि या अतिसार के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है यह आम संभवतः ग्रहणी में जाकर रुक सकता है या विषरूप में परिवर्तित हो सकता है और भी ऐसे असम्यक पाचन से उत्पन्न दूषित रस की उत्पत्ति व शरीर में परिसंचरण के कारण शारिरिक लक्षण प्रगट होते हैं। अतः सम्यक रूपेण परिपाक न होने पर आहार कोष्ठ में क्रमशः स्थूल व सूक्ष्म दो अवस्थाओं को प्राप्त करता है स्थूल आम का प्रभाव स्थानीय होता है अतः यह आमाशय व पच्यमानाशय में स्थानीय विकृति उत्पन्न करता है यथा – अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका आदि।

सूक्ष्म आमरस विष रूपत्व को प्राप्त रक्त द्वारा शोषित होकर प्रसर करता हुआ अपने अनुकूल स्थान में जाकर स्थानासंश्रय कर विभिन्न आशयो तथा अवयवों

में रोग उत्पन्न करता है। परिणामतः आम के प्रत्यात्मक लक्षण रोगी में प्रगट होते हैं।

2. **धात्वाग्निमांद्य से आमोत्पत्ति:** समस्त प्रकार की अग्नियों में जठराग्नि प्रधान है, जठराग्नि ही समस्त अग्नियों का मूल है। अतः जठराग्नि के मन्द होने पर धात्वाग्नियां भी मंद हो जाती है उचित धातु की उत्पत्ति पूर्णतः धात्वाग्नि की सम्यक् क्रिया पर निर्भर है, उसकी असम्यक् क्रिया अपक्व धातु की उत्पत्ति करती है, जो कि आम शब्द से ग्रहीत है जो धातु आमयुक्त होती है उन्हें सामधातु कहा जाता है।
3. **भूताग्निमांद्य से आमोत्पत्ति:** जठराग्निमांद्य से जिस प्रकार आम की उत्पत्ति, उसी प्रकार से भूताग्नि की मंद क्रिया भी आम को उत्पन्न करती है। वाचस्पति माधव निदान पर अपनी टीका "आंतक दर्पण" में कहते हैं कि भूताग्निमांद्य शेष, व्रण, विद्रधि और उसके समान अनेक रोगों को उत्पन्न करता है।
4. **मलसंचय से आमोत्पत्ति:** मधुकोषकार के अनुसार मल का शरीर में संचय ही आम है, मुखमार्ग से ग्रहीत द्रव्यों का शरीर में पाचन होने के उपरांत सार एवं किट्ट भागों में विभाजन हो जाता है जिससे किट्ट भाग शरीर के लिये अनुपयोगी द्रव्य होने से बर्हिनिर्गमन की अपेक्षा रखता है, यदि वात की प्रतिलोम गति या वेग विधारण से मल का शरीर में निरंतर संचय होता रहे, तो यह मल स्रोतोरोध उत्पन्न करता हुआ आम की उत्पत्ति करने में सहायक होता है। शरीर में स्थित किसी भी मल के साथ आम का संयुक्त हो जाना साममल संज्ञा को प्राप्त होता है, जैसा कि ग्रहणी रोग में पाया जाता है।

आधुनिक मत से आम की व्याख्या –

प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट एवं वसा आदि आहार द्रव्यों का जठराग्नि तथा धात्वाग्नि द्वारा आधुनिक मत से हार्मोन्स एवं एन्जाइम पाक रासायनिक रूपान्तर होकर अन्त में तत्-तत् मल में परिणिति होती है, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट एवं वसा का पाचन होकर क्रमशः एमीनो एसिड, ग्लूकोज एवं वसाअम्ल प्राप्त होते हैं, जिनका अवशोषण हो जाता है एवं अन्त में वर्ज्य पदार्थ के रूप में यूरिया, जल, एवं कार्बन-डाईआक्साइड

बाहर निकल जाते हैं, आयुर्वेद अनुसार पाचन की प्रथम क्रिया जठराग्नि से एवं द्वितीय क्रिया धात्वाग्नि पर निर्भर करती है। यदि इन दोनों में से किसी भी अग्नि की मंदता से यदि अन्तिम द्रव्य (एण्ड प्रोडक्ट) न बन कर मध्यवर्ती अर्धपक्व द्रव्य बने तो इसे आम कह सकते हैं।

जैसे – प्रोटीन के अपूर्ण पाक से यूरिक एसिड बनता है जिसका सन्धिवात में सन्धियों में स्थानसंश्रय होता है। कार्बोहाइड्रेट एवं वसा के असम्यक पाक से तक्राम्ल लेक्टिक एसिड बनता है। जैसे – मधुमेह आदि में कार्बोहाइड्रेट का पाक अपूर्ण रहता है। जब भी कार्बोहाइड्रेट एवं वसा का सम्यक पाचन नहीं होता तब अर्धपक्व अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते हैं इन द्रव्यों के नाम बीटा-हाईड्रॉक्सी-ब्यूटिरिक एसिड, एसीटो एसिटिक एसिड तथा एसीटोन इनका संयुक्त नाम कीटोन्स या “कीटोन बांडीज” है। आयुर्वेद के अनुसार इन्हें आम के अंतर्गत लिया जा सकता है।

पेशियों की चेष्टा के परिणाम स्वरूप तक्राम्ल लेक्टिक एसिड सर्वदा उत्पन्न होकर रस-रक्त में प्रविष्ट होता है, विभिन्न रासायनिक क्रिया द्वारा इसकी अन्तिम मल द्रव्यों में परिणति होकर उनका ततद् वर्हिःमुख द्वार से निर्हरण होता है। आमवात रुमेटिज्म में इस क्रिया में बाधा उत्पन्न होकर पेशियों में तक्राम्ल लेक्टिक एसिड का स्थानसंश्रय हो जाता है। इसी प्रकार प्रमेह डाईबिटीज के रोगी में इन्सुलीन के हीन योग से या यकृत के विकारवश द्राक्षा शर्करा का ग्लायकोजन में परिणमन नहीं होता। आयुर्वेद में इन क्रियाओं का कारण आम माना जा सकता है।

इस प्रकार आमाशयादि में प्रोटीनों का पाक अपूर्ण रह जाने से उनकी एमीनो एसिड के रूप में परिणति न होकर जो अर्धपक्व द्रव्य पेप्टोन या प्रोटीओज बनते हैं वे भी आम द्रव्य हैं। इसी प्रकार इन आम द्रव्यों पर पक्वाशय में कोथजनक जीवाणुओं की क्रिया होकर जो इंडोल, स्केटोल, हाईड्रोजन सल्फाइड, मिथेन, स्नेहाम्ल आदि दुर्गन्ध युक्त एवं दुर्गन्धरहित विभिन्न स्वरूपों वाले द्रव्य उत्पन्न होते हैं ये आम संज्ञक ही समझे जा सकते हैं।

रस धातु का पाक किसी भी कारण से अधूरा रह जाने से वैद्यक मतानुसार उर्ध्वजत्रुगत द्वारों से कफ अधिक निकलने लगता है, वह कफ भी आम है। कफ में म्यूसीन नामक प्रोटीन होता है उसका पूर्णपाक होकर शरीर धातुओं के लिये उपर्युक्त प्रोटीन में परिणति नहीं हो पाती है, यह कल्पना करनी चाहिये। उपरोक्त विवेचन से यह

निष्कर्ष निकलता है कि आम उस अवरोध जन्य द्रव्य को कह सकते हैं जो सामान्य शरीर में होने वाली चयापचय क्रिया के सम्यक सम्पादन में रूकावट डालता है।

आमवात में स्रोतस परिचय –

शरीर के स्वास्थ्य एवं रोगोत्पत्ति में दोष, धातु, मलों को वहन करने वाले स्रोतों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। आमवात व्याधि में प्रधान रूप से अन्नवह स्रोत एवं रसवह स्रोत की विकृति पायी जाती है।

अन्नवह स्रोत : महर्षि चरक ने अन्नवह स्रोतों का मूल आमाशय एवं वामपार्श्व तथा सुश्रुत ने आमाशय एवं अन्न वाहनी धमनियां माना है यथा –

“अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं वामं च पार्श्व।” (च.वि.5/7)

“अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्न वाहिन्यश्च धमन्यः” (सु.शा.9/12)

अन्नरूप आहार को मुख द्वारा ग्रहण करने के पश्चात् जठराग्नि द्वारा अवस्थापाक के द्वारा वह अन्नरस में परिणित होता है। अन्न की वह सारी क्रिया अन्नवह स्रोतस में होती है जो शरीर में मुख से लेकर आमाशय क्षुद्रान्त तक है।

अन्नवह स्रोतोदुष्टि : कारण एवं लक्षणः महर्षि चरक के अनुसार अकाल में, अधिक भोजन करने से, जठराग्नि के विकृत होने से अन्नवह स्रोतोदुष्टि होती है, इनकी दुष्टि होने पर अन्न खाने की इच्छा न होना, अरुचि, अन्न का सम्यक परिपालन न होना तथा छर्दि आदि लक्षण मिलते हैं यथा –

“अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्”

अन्नवाहीन दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च॥ (च.वि.5/12)

आमवात में जो हेतु निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें से विरुद्धाहार के अन्तर्गत अन्नवह स्रोतोदुष्टि कर हेतुओं जैसे अकाल में, अति भोजन, अहितकर भोजन आदि का समावेश हो जाता है।

आमवात आमाशय समुत्थ व्याधि है एवं आमाशय का ग्रहण अन्नवहस्रोतस के अन्तर्गत ही होता है। आमवात में जठराग्नि की विकृति अल्पता आमोत्पत्ति के लिये आवश्यक होती है जो कि अन्नवह स्रोतोदुष्टि का भी प्रमुख हेतु है इसके साथ ही अन्नवहस्रोतोदुष्टि के जो लक्षण अरुचि, अपाक, छर्दि आदि बताये गये हैं, वे सभी आमवात में पाये जाते हैं। अतः आमवात में सर्वप्रथम हेतु सेवन के बाद दोष प्रकोप एवं जठराग्निमांद्यता होकर अन्नवहस्रोतो दुष्टि लक्षण उत्पन्न होते हैं। चूंकि आहार पाक

क्रिया में अन्नवह स्रोतस में ही सम्पन्न होती है एवं उनमें विकृति के परिणाम स्वरूप ही व्याधि के प्रथम घटक आम की उत्पत्ति होती है इसलिये आमवात में अन्नवह स्रोतोदुष्टि होना प्रत्यक्षतः एवं अनुमानतः सिद्ध है।

रसवह स्रोतस : महर्षि चरक ने रसवह स्रोतो के मूल हृदय एवं दस धमनियों को माना है तथा सुश्रुतानुसार रसवह स्रोतो की संख्या दो है और इनके मूल हृदय एवं रसवाहनी धमनियां है।

“रसवहानां स्रोतसां हृदयमूलं दश च धमन्यः।” (च.वि.5/7)

रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः। (सु.शा.9/12)

रसवह स्रोतोदुष्टि : कारण एवं लक्षण : चरक मतानुसार अत्यंत गुरु, अतिशीत, अतिस्निग्ध, अति मात्रा में भोजन करने से, समशन से, विचार करने योग्य विषयों का अधिक विचार करने से रसवाही स्रोत दुष्ट हो जाते हैं। रसवह स्रोतों की दुष्टि हो जाने पर अश्रद्धा, अरुचि, मुख में विरसता, हल्लास, गौरव, तन्द्रा, अंगमर्द, ज्वर, तम, पाण्डु, क्लीवता, शिथिलता, अग्निनाश, अकाल पलित, स्रोतोरोध आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

“गुरुशीतमति स्निग्धमतिमात्रं समशनताम्।

रसवाहीन दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात्।।” (च.वि.5/13)

“अश्रद्धा चारुचिश्चास्य वैरस्यमर संज्ञता।

हल्लासो गौरवं तन्द्रा साड.मर्दो ज्वरस्तमः।।

पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैव्यं सादः कृषांगता।

नाशोऽग्नेरयथां कालं बलयः पलितानि च।। (च.सू. 28/9-10)

आमवात में रसवह स्रोतो दुष्टि को निम्न उद्धरणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।

1. आचार्य माधव ने आमवात की सम्प्राप्ति में धमनी प्रतिपद्यते शब्द से स्पष्टतया रसवह स्रोतस का ग्रहण किया है। रसवह स्रोतस के पर्यायों में भी धमनी शब्द से रसवह स्रोतस का ग्रहण किया है।
2. रसवह स्रोतों दुष्टि के हेतुओं गुरु-शीत, अतिस्निग्ध, अतिभोजन, समशन का समावेश आमवात के हेतु “विरुद्धाहार” वर्ग में एवं अत्यधिक चिन्ता हेतु को “विरुद्ध विहार” में समाविष्ट कर सकते हैं।

3. रसवह स्त्रोतोदुष्टि के लक्षणों में अधिकांश अश्रद्धा, अरुचि, स्त्रोतोरुध आदि आमवात व्याधि में भी मिलते हैं।

अतः हेतु, सम्प्रति एवं लक्षणों के परस्पर साम्य के आधार पर आमवात व्याधि में रसवह स्त्रोतोदुष्टि होना सिद्ध है।

आमवात स्त्रोतोदुष्टि –

दोष प्रकोपक आहार-विहार एवं धातु विरोधी स्वभाव वाले द्रव्यों के उपयोग से स्त्रोतो की दुष्टि होती है, अर्थात् स्त्रोतो दुष्टि से प्रकुपित दोष के स्थानसंश्रय के लिये वहां रोगोत्पत्ति के निमित्त अनुकूल परिस्थितियाँ बन जाती हैं। आमवात में वायु द्वारा प्रेरित आम जब रसवह स्त्रोतों में संचरण करता हुआ संधियों में पहुंचता है तो वहाँ संधियों की वक्र स्थिति के कारण गति में बाधा उत्पन्न होती है इसके साथ ही आम अपने अभिष्यन्दी पिच्छिल आदि गुणों के द्वारा सन्धिस्थ रसवह स्त्रोतो में "संग" उत्पन्न कर वायु के मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर देता है।

अतः सन्धियों में आम के द्वारा संग की उत्पत्ति से वायु की गति में अवरोध होने के कारण ही संधि शूल, शोथदि व्याधि के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

दोष विवेचन

इस व्याधि में त्रिदोष निम्न भेद से मुख्यतः कार्यकारी है।

वात – (अ) समान वायु (ब) व्यान वायु (स) अपान वायु

कफ – (अ) क्लेदक कफ (ब) श्लेषक कफ

पित्त – (अ) पाचक पित्त

1. **समान वायु** : स्थान एवं कर्म – समान वायु का स्थान स्वेदवाही, अम्बूवाही, दोषवाही, स्त्रोतस, आन्तराग्नि पार्श्व प्रदेश, आमाशय, पक्वाशय एवं नाभि प्रदेश कहा गया है। उक्त सभी स्थानों पर पाक क्रिया होती है और पाक जन्य पदार्थों का विवेक अर्थात् सार तथा किट्ट भाग का पृथकरण होता रहता है। हमारी कायाग्नि शरीर वृद्धि के लिये तथा ऊर्जा उत्पन्न करने के लिये सदा शरीर में आये हुये अन्न तथा अन्न रस का अवस्थानुसार पाक करती रहती है। इस पाक क्रिया को सुचारु सम्पन्न करने के लिये अग्नि को प्रदीप्त या संधुक्षित करने वाला कोई द्रव्य उसके समीप होना आवश्यक है। अतः जो वायु उक्त अग्नि के समीप रहकर उसे संधुक्षित करती है उसे

समान वायु कहते हैं। इसी से समान वायु को आन्तराग्नि समीपस्थ तथा पार्श्वस्थ कहा गया है।

“स्वेददोषाम्बु वाहीनि स्त्रोतांसि समधिष्ठितः।

अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्नि बलप्रदः॥ (च.चि. 28/8)

“आमापक्वाशय चरः समानो बृहिसंगतः।

सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि॥(सु.नि. 1/16)

समान वायु का प्रधान कार्य “विवेक” है, विवेक रासायनिक विश्लेषण को कहते हैं, अर्थात् समान वायु आमाशय व पक्वाशय में निवास करता हुआ तत्रस्थ अन्तराग्नि का संधुक्षण कर वहां आये हुये अन्न के पाचन में सहायक होता है और उक्त अग्नि (पाचक रसों) द्वारा पके हुये अन्न से प्रसाद भाग व किट्ट भाग पृथक करती है। इस प्रकार अन्न रस और अन्न मल के विवेक (प्रथक्करण) द्वारा शरीर धारण के लिये अन्न रस को स्त्रोतों के विचरण के योग्य बनवाकर शरीर का धारण करती है और पृथक किया हुआ मल भाग को नीचे की ओर ढकेल कर उसे बाहर निकालने योग्य बनाती है। भोजन किया अन्न जब अमाशय तथा पच्यमानाशय में पहुंचता है तो वहां उन पर विविध पाचक रसों का स्त्राव होता है। यह स्त्राव का कार्य उनमें संलग्न नाडियों के अनुप्राणन से होता है जो कि समान वायु के द्वारा ही सम्पादित होता है। पाचक रसों के भुक्त अन्न पर क्रिया होने के बाद पाक जन्य अन्न रस का विवेक अर्थात् मल से पृथक्करण होता है और पृथक किया हुआ अन्न रस का प्रसाद भाग द्विविध स्त्रोतों (रसायनी तथा प्रतिहारणी शिराओं की शाखाओं) द्वारा आचूषित होकर सिरा रक्त में मिलकर रूधिर प्रवाह में जाता है। उक्त अन्नरस का प्रसाद भाग शरीर धातुओं (रसादि) का उपादान धातु बन उनका पोषण करता है। यह आचूषण कर्म भी समान वायु का ही है।

समान वायु का व्याधि उत्पत्ति में सहयोग – आमवात के हेतुओं का सेवन करने पर प्रथम दोषवैषम्य होता है। कोष्ठस्थ समान वायु के प्रकुपित होने पर वह अपने “अग्नि संरक्षण” कर्म का सम्पादन सम्यक रूप से नहीं कर पाती है। जिससे अग्नि वैषम्य पूर्वक अग्निमांद्य होकर भोजन का सम्यक पाक नहीं होकर आमोत्पत्ति होती है। अतः आम के निर्माण में अग्निमांद्य तथा अग्निमांद्य उत्पादन में मूल कारण “समान

वायु विकृति" होना है। अतः आमवात में समान वायु की विकृति होना स्पष्टतः सिद्ध हैं।

व्यान वायु : स्थान एवं कर्म – व्यान वायु का स्थान सम्पूर्ण शरीर कहा गया है, अर्थात् वह हृदय में रहता हुआ सम्पूर्ण शरीर में रस-रक्त संवहन करता रहता है। तात्पर्य यह है कि शरीर की समस्त रक्तवाहनियां (धमनियां या सिरा) में व्यान वायु का स्थान है। सम्पूर्ण शरीर में रस रक्तादि का संवहन करना व्यान वायु का कार्य है। इसके अतिरिक्त शरीर में जहां-जहां आकुंचन, प्रसारण, उत्प्रेक्षण आदि गत्यात्मक कार्य होते हैं। सर्वत्र व्यान वायु द्वारा ही सम्पादित होते हैं। मांस पेशियां, संधियां, स्नायु, रज्जु इत्यादि सभी व्यानवायु के स्थान हैं।

देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृगाम्।

गति प्रसारणाक्षेप निमेषादि क्रियाः सदा।।

कृतस्न देहचरो व्यानो रस संवहनोद्यतः।

स्वेदासृक स्त्रावणश्चापि पञ्चदद्याचेष्टय व्यापि।।

व्यानवायु का प्रधान कर्म "पूरण" अर्थात् समस्त शरीर के वाहिनियों को रस-रक्त से भरा-पूरा रखना है। यह रस रक्तादि का संवहन करता है। स्वेद व रूधिर का स्त्राव करता है। रूधिर के स्त्राव से तात्पर्य कोशिकाओं से रस का स्त्राव है वह प्रसारण, आकुंचन आदि पांच प्रकार की चेष्टाओं द्वारा तथा उनमें होने वाली गति, निमेष, उन्मेष, आक्षेप आदि कार्यों का सम्पादन करता है। जृम्भन, आस्वादन, स्त्रोतों विशोधन आदि कार्य भी व्यान वायु के ही हैं। हृदय से रक्त को लेकर समस्त शरीर में संचार कराना तथा कोशिकाओं के स्त्राव से तंत्रत अवयव प्राप्त वाहिनियों के अशुद्ध रक्त को पुनः हृदय की ओर प्रवाहित कराना आदि कार्य व्यानवायु के हैं। रक्त संवहन में धमनियों एवं शिराओं का संकोच एवं प्रसार कारण होता है, जो कि व्यान वायु द्वारा ही सम्पन्न होता है। आयुर्वेद में "पूरण" शब्द से इस भाव को व्यक्त किया गया है। शरीर की चेष्टायें प्रधानतया या मांस पेशियों द्वारा सम्पन्न होती हैं। अतः मांस पेशियों में उपयुक्त रक्त का संचार कराकर उन्हें आवश्यक पोषणों का स्त्राव रस द्वारा कराकर उनमें गति उत्पन्न करना व्यान वायु का कार्य है।

व्यान वायु का व्याधि उत्पत्ति में सहयोगः—

1. हृदय को व्यानवायु का स्थान माना गया है आमवात की सम्प्राप्ति में "गौरवं हृदयस्य च" शब्द से हृदय प्रदेश में विकृति होना स्पष्ट है चूँकि गौरव आदि कर्म स्पष्टतया तत्रस्थ हृदयस्थ आम की विकृति को दर्शाने वाले हैं अतः व्यान वायु के आश्रय स्थल हृदय में विकृति होने से तत्रस्थ व्यान वायु का भी आम से दुष्टि होना स्पष्ट है।
2. व्यान वायु का प्राकृत कर्म हृदय का संकोच एवं विकास भी बताया गया है। आमवात में हृदय के संकोच एवं विकास कर्म में विकृति तथा हृदग्रह लक्षण पाया जाता है एवं कालान्तर में हृदय रोग होना भी संभव होता है।

इस प्रकार आमवात रोग में व्यान वायु की दुष्टि होना स्पष्टतः सिद्ध है।

अपान वायु : स्थान एवं कर्म — अपान वायु का स्थान वृषण, वस्ति, मेद्व, नाभि, उरु, वंक्षण, गुद आदि है, इन स्थानों में शरीर में उत्पन्न हुये मल एकत्रित एवं उत्सर्जित होते हैं ये स्थान मल का धारण करते हैं और समयानुसार उन्हें बाहर निकालते हैं यह कार्य अपानवायु का है। इसके अतिरिक्त शुक्र तथा आर्तव को भी अपने स्थान में धारण करना तथा उन्हें आवश्यकतानुसार बाहर निकालना इसका कार्य है।

“वृषणौ वस्ति मेद्वं च आभ्युरु वंक्षणों गुदम्।

अपान स्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्र शकृन्ति च।

सृजत्यार्तव गर्भो च युक्ताः स्थानस्थितश्चते।

स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते तेरनामयः॥

“पक्वाधनालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्।

समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रगर्भान्तर्वान्यधः” ॥

अपान वायु का प्रधान कर्म आवेग काल में मल—मूत्र, शुक्र तथा आर्तव का धारण और वेग उपस्थित होने पर इन्हें बाहर निकालना है। आवेग काल में गुद, मेद्व, वस्ति, वृषण आदि के द्वारों को बन्द रख तत्रस्थ मलों को धारण करना तथा वेग उपस्थित होने पर तत्तत् अवयवों में संकोच उत्पन्न करना और उनके द्वारों को खोलकर तत्रस्थ मलाविकों को बाहर निकालना अपान वायु का कार्य है। गर्भाशय में प्रसव के लिये अनुपस्थित काल तक उसके मुख को बन्द रख, गर्भ का धारण करना तथा प्रसवकाल

उपस्थित होने पर गर्भाशय में संकोच उत्पन्न कर उसके मुख को विस्फारित करके गर्भस्य बालक को बाहर निकालना अपान वायु का कार्य है।

अपान वायु का व्याधि उत्पत्ति में सहयोग – “अपान तंत्रस्थ एवं अन्वेषामनुग्रहं करोति” के आधार पर अपान वायु अन्य सभी चतुर्विध वात का पोषण एवं क्रियाशीलता में सहयोगी होती है। इसमें विकृति होने पर समस्त वात विगुणित होकर शरीरगत नानाविध व्याधियों को जन्म देती है। अपान वायु का संग आम की उत्पत्ति में सहायक भूत, उदावर्त्त उत्पादक, स्वकर्मों के संचालन में अवरोध होने से शूल, दोषों का कोष्ठ से शाखागमन में प्रेरित कर संधि शूल, सन्धि शोथ, ज्वर, तोद, भेद आदि पीड़ाकर भावों की उपस्थिति लाने में सहायक होता है पार्थिव तत्व बहुत होने से गुरु, स्थिर गुण प्रधान अन्य शरीरगत गुणों की वृद्धि से व्याधि को और दृढ़ता प्राप्त होती है।

आमवात रोग में कफ दोष के “क्लेदक” व “श्लेषक” भेदों की विकृति मुख्य रूप से होने के कारण इन दोनों भेदों का वर्णन यहां किया जा रहा है।

क्लेदक कफ का स्थान व कर्म – आमाशय में जो होता है उसे “क्लेदक कफ” कहते हैं, यह भोजन किये गये अन्न का क्लेदक करता है। अतः इसका नाम इसके कर्म विलम्ब करने से क्लेदक है। प्रथमावस्थापाक मधुर होने के कारण अन्न षडरस हो तो भी आमाशय के उर्ध्वभाग में उसका रस प्रधानतया “मधुर” होता है। यह आमाशय में उत्पन्न होने वाला कफ शरीर तथा अन्य कफाशयों का स्नेहन, पोषणादि उदक कर्मों अनुग्रह सहायता करता है।

क्लेदक कफ का व्याधि उत्पत्ति में सहयोग – यदि क्लेदक कफ की वृद्धि हो जाय तो यह वृद्ध कफ कोष्ठस्थ दोषों के साथ विषमता उत्पन्न कर आप्य प्रधान, द्रव एवं शीत गुणों द्वारा पाचकाग्नि को आच्छादित कर उसमें मांद्यता उत्पन्न कर देता है।

क्लेदक कफ के क्षय होने पर अन्न संघात का भली-भांति क्लेदक न होने के कारण जाठराग्नि अन्न संघात का सम्यक रूपेण पाक करने में असमर्थ होकर विषमपाक करती है।

इस प्रकार आमवात में क्लेदक कफ की विकृति के कारण अन्न का सम्यक संघात न होने से अग्नि वैषम्य होकर अपक्व अन्न रस के निर्माण में सहायता मिलती है। क्लेदक कफ की विकृति होने पर मन्दाग्नि, हृल्लास, वमन, आमाजीर्ण, उर्ध्व अम्लपित्त तथा गौरव एवं शरीर में भारीपन आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

अतः उपरोक्त दोनों ही अवस्थायें आम के निर्माण में सहयोगी है।

श्लेषक कफ का स्थान व कर्म – श्लेषक कफ संधियों में रहता है और यह सब प्रकार की संधियों को संश्लेषित कर अनुगृहीत करता है, अस्थियों के परस्पर जुड़े हुये (संधि युक्त) सिरे एक कला से आवृत्त होते हैं ; इसे “श्लेष्मधरा कला” (साइनोबिडल मेम्बेरेन) कहते हैं, इस कला से एक चिकना सा स्त्राव होता है, जिसके कारण कर्मावस्था में अस्थियों में रगड़ या रूकावट नहीं होती। यह स्त्राव “श्लेषक कफ” (साइनोविआ) कहलाता है।

श्लेषक कफ का व्याधि उत्पत्ति में सहयोग – आमवात के हेतुओं पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि इनके द्वारा संधियों में श्लेषक कफ की विकृति पूर्वक “ख वैगुण्य” उत्पन्न होता है। आमवात के प्रमुख लक्षण सन्धिशूल एवं सन्धिशोथ है। सन्धियों की इस विकृति के कारण सन्धि का आश्रय श्लेषक कफ होता है।

आमवात की सम्प्राप्ति के अनुसार वायु द्वारा प्रेरित आम सन्धियों में पहुंचता है, यह आगन्तुक सामवात श्लेषक कफ की सहायता से “करोति सरूजं शोथं” वचनानुसार शोथ एवं वेदना आदि लक्षण उत्पन्न करता है।

इस प्रकार आमवात में श्लेषक कफ की विकृति होना स्पष्टतः सिद्ध होता है।

(3)पित्त दोष – शास्त्रोक्त “न खलु पित्त व्यति रेकादन्योऽग्निरूप मुलभ्यते” के अनुसार पित्त के अलावा अन्य कोई शारीरिक अग्नि प्रतीत नहीं होती हैं। यह शारीरिक अग्नि अथवा पित्त शरीर में वहन, पाचन, प्रकाशन आदि क्रियायें सम्पन्न करता है। पाचकाग्नि के समावस्था में रहने पर यह आरोग्य व दीर्घायु प्रदान करती है, इसके विकृत होने पर शरीर में विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं।

आमवात व्याधि में अग्निमांद्य होता है, एक आवश्यक घटना है। अग्निमांद्य के बिना इस व्याधि की उत्पत्ति होना असम्भव है। पाचक पित्त पाचकाग्नि की विकृति से अग्नि वैषम्यपूर्वक अग्निमांद्य च तत्पश्चात् आमरस की उत्पत्ति होती है। धात्वाग्नियों की स्थिति भी जाठराग्नि पर निर्भर होने से धात्वाग्नियों में भी मांद्यता की स्थिति उत्पन्न होती हैं जब यह आम शोषित होकर रसवह स्त्रोतस में पहुंचता है तब रसधात्वाग्नि भी दुर्बल होने से उस आमरस का सम्यक पाक न करके अपक्व आमरस धातु का निर्माण करती है। यह आमरस व्याधि उत्पत्ति का मूल कारण होता है। अतः आमवात में पाचक पित्त की दृष्टि होना स्पष्टतः सिद्ध होता है।

आमवात रोग निदान –

“विरुद्धाहार चेष्टरस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च।

स्निग्धं भुक्तवतोहन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा।।” (माधव निदान 25/1)

आयुर्वेद शास्त्र में आमवात व्याधि के निदानों की दृष्टि से विरुद्धाहार, विरुद्धचेष्टा आदि को आमवात के निदानों के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। आमवात के अपथ्यों के गुण कर्मों एवं शरीर में इनकी क्रिया एवं प्रभावों पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि विभिन्न अपथ्यों का सम्मिलित रूप में निरन्तर दीर्घकाल तक सेवन ही रोगोत्पादन में हेतु होता है। इसके अतिरिक्त व्याधि के घटक आम एवं वात दोनों के वर्धक हेतुओं के दीर्घकाल तक अतिमात्रा में एक साथ सेवन, अग्नि वैषम्य, आम निर्माण एवं वात प्रकोपक व्याधि उत्पत्ति में समवायि कारण होते हैं।

आमवात व्याधि के निदान विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार इस प्रकार दर्शाये जा रहे हैं।

आहार जन्य हेतु	विहार जन्य हेतु	अन्य निदानार्थक भाव
1. विरुद्ध आहार	1. विरुद्ध चेष्टा	1. अग्नि मांद्य
2. स्निग्ध भोजन	2. निष्चलता	2. ग्रहणी आदि
उपरान्त व्यायाम	3. स्निग्ध भोजन के बाद व्यायाम	3. अग्नि वैषम्यकर रोग हेतु

क्रं.सं.	निदान	मा.नि.	यो.नि.	सि.नि.	वृ.नि.र.	भा.प्र.
1.	विरुद्ध आहार	+	+	–	+	+
2.	विरुद्ध चेष्टा	+	+	–	+	+
3.	मन्दाग्नि	+	+	–	+	+
4.	अनिश्चलता	+	+	+	+	+
5.	स्निग्ध भोजन के बाद व्यायाम	+	+	–	+	+
6.	गुर्वाति सेवन	–	–	+	–	–
7.	स्निग्धाति सेवन	–	–	+	–	–
8.	मधुराति सेवन	–	–	+	–	–

विरुद्ध आहार –

महर्षि चरक के अनुसार जो आहार द्रव्य या औषधि दोषों को अपने स्थान से उभार दे, पर उसे शरीर से बाहर न निकाले, वे सभी आहार द्रव्य अहितकर होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य धातुओं के विपरीत कार्य करते हैं उसे विरुद्ध आहार कहा जाता है, इन द्रव्यों में कुछ द्रव्य परस्पर गुण विरुद्ध, कुछ संयोग विरुद्ध, कुछ संस्कार, देश, काल, मात्रा आदि के विरुद्ध एवं कुछ स्वभाव से ही विरुद्ध होते हैं।

इन विरुद्ध आहारों में जो कफ वात प्रकोप के साथ पाचाग्नि को मन्द करते हैं वे आमवात को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं, इसकी पुष्टि इस प्रकार की जा सकती है – यथा – जांगम देश में रूक्ष तथा तीक्ष्ण आदि द्रव्यों का सेवन करना एवं आनूप देश में शीतल एवं स्निग्ध गुण युक्त द्रव्यों का सेवन करना दोनों ही देश विरुद्धाहार है, ये दोनों अवस्थायें वात एवं पित्त प्रकोपक हैं। पुष्टि आचार्य चरक शीतातिरूक्ष संतुष्ट भोजनाहेतु च.चि. 15/42 से की जा सकती है, जो कि आम रस को उत्पन्न करने में सहायक है।

देष कालतु वैषम्याद एवं असात्म्य गुरुशीतरूक्ष संदुष्ट भोजनात्। (च.चि. 15/42) यह उत्पन्न आमरस आम की रसायनियों द्वारा शोषित होकर समस्त शरीर में भ्रमण करता है व रसाग्नि को मंद करता है, यह आम रस संधि स्थानों में स्त्रोतोरोध कर स्थानसंश्रय कर आमवात के लक्षणों को उत्पन्न करने में अहम् भूमिका निभाता है।

विरुद्ध आहार – “विरुद्धाच चेष्टा यथा – अजीर्णं व्यायाम व्यवाय जल प्रतरणादि।

आचार्य माधवकर ने आमवात के कारणों में “विरुद्ध आहार चेष्टस्य” पद से विरुद्धाहार के साथ चेष्टा को समाविष्ट किया है, आचार्य विजय रक्षित ने इस पर टीका करते हुए विरुद्ध चेष्टा से अजीर्ण में व्यायाम करना, मैथुन करना एवं जल में तैरना आदि को निरूपित किया है। इन विरुद्ध चेष्टाओं से वायु आम (आमरस) को चलायमान कर देती है। जिससे स्त्रोतोवरोध होकर आमवात के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

“कर्म चेष्टितमुच्यते” इस सिद्धान्तानुसार यहां चेष्टा शब्द से कर्म का ग्रहण किया जाता है, मानव शरीर में होने वाली चेष्टायें शारीरिक और मानसिक दो प्रकार की होती हैं।

शारीरिक चेष्टायें – उच्छ्वास, निःश्वास, मलमूत्र विसर्जन, रात्रि शमन, नियतकाल में भोजन, व्यायाम, विश्राम आदि।

मानसिक चेष्टा में – ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान एवं संज्ञा चेष्टाओं का ग्रहण, मन को सदा प्रसन्न रखना, पठन पाठन, बड़ों का आदर, धर्म एवं मांगलिक कार्यों में रूचि, देवी देवताओं की आराधना आदि का समावेश किया जाता है। माधव टीकाकार विजय रक्षित ने विरुद्ध चेष्टा में उन अवस्थाओं में किये जाने वाले शारीरिक कर्मों का ग्रहण किया है जो वात प्रकोपक एवं आमोत्पत्ति के कारण बन सकने में सहायक है।

मन्दाग्नि – आयुर्वेद शास्त्र में जठराग्नि के मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि, समाग्नि एवं विषमाग्नि में चार भेद माने गये हैं, अग्नि की इन स्थितियों में से मन्दाग्नि को आमवात का प्रकृष्ट कारण माना गया है। मन्दाग्नि कफ की अधिकता के कारण पाचकाग्नि की एक ऐसी विकृत अवस्था है जिसमें लघु भोजन करने पर भी यह अत्यंत मन्दगति से व अधिक समय में पचता है। मन्दाग्नि कफ के मन्द गुण की अभिवृद्धि का द्योतक है तथा अति गुरु, शीत स्निग्ध, मधुर एवं पिच्छिल गुणों द्वारा आहार द्रव्यों के अधिक सेवन करने से कफ की वृद्धि पूर्वक मन्दाग्नि उत्पन्न होती है।

अग्निमांद्य तथा अजीर्ण भी मन्दाग्नि का परिणाम है। कुछ विद्वानों ने तो अग्निमांद्य तथा अजीर्ण को स्वतंत्र व्याधि के रूप में वर्णित किया है। अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अध्यशन, विरुद्धाशन, विषमाशन, वेगावरोध, रात्रि जागरण, दिवास्वप्न, अत्याम्बु पान, असात्म्य सेवन आदि से अजीर्ण की स्थिति उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त ईर्ष्यादि, भय, क्रोध, चिन्ता आदि मानसिक भाव भी अजीर्ण की उत्पत्ति के कारणभूत होते हैं। अजीर्ण की स्थिति में अग्निमांद्य तथा अग्नि की मन्दता से आम की उत्पत्ति होती है। यह आम त्रिदोष प्रकोप पूर्वक वायु के साथ शरीर में परिभ्रमण करता हुआ सन्धियों के वक्रावस्था में स्थित होकर व्याधि उत्पन्न करता है।

निश्चलता – निश्चेष्टस्य को माधवकर ने आमवात का हेतु कहा है, जो कि अग्निमांद्य कर आमोत्पादक है। निश्चेष्टता का तात्पर्य श्रम का अभाव है। यह श्रमाभाव कफ की वृद्धि का कारण बनता है श्रमाभाव की स्थिति में श्वास प्रश्वास एवं शारीरिक वायु विनमय, रक्त संवहन आदि प्राकृतिक शारीरिक क्रियाओं में मन्दता (न्यूनता) आ जाने से शरीरस्थ कोशाओं को पूर्ण रूपेण पोषण नहीं मिल जाता है, जिससे कोशिकाओं की क्रिया सम्पादन क्षमता में मन्दता के फलस्वरूप शारीरिक क्रियायें सम्यक रूप से सम्पन्न नहीं हो पाती हैं।

तथा साथ ही अग्नि व्यापार भी ठीक से न होकर जठराग्निमाद्य एवं धात्वाग्निमाद्य की स्थिति उत्पन्न होती है, जिससे आगे चलकर आमोत्पत्ति पूर्वक व्याधि उत्पत्ति होती है।

स्निग्ध भोजन के उपरान्त व्यायाम – स्निग्ध भोजनोपरांत व्यायाम से आमवात की उत्पत्ति में विशेष सहायता मिलती है, यहाँ स्निग्ध भोजन का अभिप्राय स्निग्ध (श्लेष्म) गुण युक्त आहार से है जो आमोत्पादक है। व्यायाम वात प्रकोपक होता है। जब स्निग्ध भोजन के उपरांत व्यायाम किया जाता है तब वात एवं कफ का एक साथ प्रकोप होकर अग्निमाद्य होता है, जिससे आमरस की उत्पत्ति होकर आमवात का कारण बनता है।

स्निग्ध आहार सेवन से कफ के प्रकोप से अग्निमाद्य पूर्वक आमरसोत्पत्ति एवं व्यायाम से वात प्रकोप होकर पूर्वोत्पन्न आमरस प्रकुपित वायु द्वारा अभिप्रेरित होकर समस्त शरीर में परिभ्रमण करता हुआ श्लेष्म स्थल संधियों में पहुंचता है, जिससे वहां स्त्रोतोवरोध उत्पन्न होकर आमवात के लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

आधुनिक विज्ञान के परिपेक्ष्य में स्निग्ध भोजन एवं व्यायाम एक साथ करने से प्राणदा नाड़ी (Vagus Narve) की आमाशयिक शाखा में क्षोभ उत्पन्न होने से आमाशय की गति तीव्र हो जाती है और मुद्रिका द्वार (Pyloric orifice) खुल जाता है, जिससे भोजन पूर्ण पाक के बिना ही आमाशय से ग्रहणी, ग्रहणी से क्षुदांत्र, क्षुदांत्र से वृद्धांत्र में चला जाता है, इससे विभिन्न स्थलों पर विभिन्न पाचक रसों का भोजन के साथ संयोग नहीं हो पाता है और अपक्व रस की उत्पत्ति होती है। इसके साथ ही व्यायाम के द्वारा रक्त परिसंचरण एवं आंत्र की गतियों में वृद्धि के कारण आंत्र की शोषण शक्ति बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि अपक्व अन्न रस शोषित होकर शरीर में परिभ्रमण के लिये चला जाता है। उक्त आमरस स्त्रोतोवरोध के कारण जिस स्थान में संचित होता है उस स्थान पर आमवात के लक्षणों को उत्पन्न करता है, यह विशेषतः संधि स्थलों में संचित होता है क्योंकि व्यायाम से संधि स्थानों में वात की अधिक वृद्धि होती है।

गुरु स्निग्ध मधुराति सेवन – गुरु, स्निग्ध एवं मधुराति द्रव्यों का निरन्तर अतिमात्रा में सेवन भी इस व्याधि का कारण बनता है, ये द्रव्य प्रधानतया पृथ्वी एवं जल महाभूत प्रधान होते हैं, इसके निरन्तर अतिमात्रा में सेवन करने से जठराग्नि मन्द हो जाती है। जिसके परिणामस्वरूप आहार रस का पूर्ण पाक नहीं हो पाता है, और आमरस उत्पन्न होकर व्याधि के लक्षणों को उत्पन्न कराने में सहायक होता है।

निदानार्थ रोग जन्य हेतु – कुछ रोग निदान के समान ही रोगोत्पत्ति करने वाले होते हैं, अर्थात् जिस प्रकार निदान रोगों को उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार एक रोग दूसरे रोग का उत्पादक होने से निदानार्थकर हेतु कहलाता है। आमवात व्याधि के हेतुओं के इस वर्ग में जिन रोगों के परिणाम स्वरूप या उपद्रव स्वरूप, आमवात रोग उत्पन्न होता है इसमें उन रोगों की गणना की जा सकती है। यद्यपि आयुर्वेद शास्त्र में आमवात रोग के निदानार्थकर किसी भी रोग का वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं मिलता है किन्तु भावप्रकाश में फिरंग रोग से आमवात के समान व्यथा होने का निर्देश मिलता है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार राजयक्षा, उष्णवात, उपदंश आदि रोगों द्वारा ग्रसित रोगियों में उपद्रव स्वरूप आमवात व्याधि के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

आमवात की सामान्य सम्प्राप्ति –

पूर्व वर्णित निदानों का सेवन करने से मंदाग्नि होकर आम उत्पन्न होता है एवं वात प्रकोप भी होता है। इस विकृत वायु से आम प्रेरित होकर रसायनियों द्वारा श्लेष्म स्थानों में जाता है। वहां अधिक विकृत या विदग्ध होकर यह आमरस धमनियों या रसवह स्त्रोतस में पहुंचता है। यह वातादि दोषों से अत्यंत दूषित होकर स्त्रोतसों को अभिष्यन्द युक्त कर देता है और पहले से उत्पन्न हुये संधिस्थ ख वेगुण्य को प्राप्त कर स्थिर हो जाते हैं। वहां दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना होकर में वेदना करने वाले आमवात रोग की उत्पत्ति करते हैं।

वायुना प्रेरितोऽयामः श्लेष्म स्थानं प्रधावति ।
तेनात्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनीः प्रति पद्यते ॥
वातापित्त कफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः ।
स्त्रोतांस्य भिष्यन्दयति नानावर्णोऽति पिच्छिलः ॥
जन्यत्यासु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च ।
व्याधीनामाश्रयो ह्येष आम संज्ञोऽति दारुणः ॥
युगपत्कुपितावन्तस्त्रिक संधि प्रवेशकौ ।
स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते ॥ (माधव निदान 25/2-5)

विशिष्ट सम्प्राप्ति – रोग उत्पन्न होने पर उसमें दोषों की अंशांश कल्पना करना अथवा रोग के बलाबल का ज्ञान विशिष्ट सम्प्राप्ति के अन्तर्गत आता है।

चरकाचार्य ने सम्प्राप्ति के 6 भेद किये है –

- | | | |
|-----------|-----------|--------------|
| 1. संख्या | 2. विकल्प | 3. प्राधान्य |
| 4. विधि | 5. बल | 6. काल |

आचार्य वाग्भट्ट ने विधि का संख्या में ही अन्तर्भाव कर सम्प्राप्ति को पांच प्रकारों में अभिव्यक्त किया है –

- | | | |
|-----------|-----------|--------------|
| 1. संख्या | 2. विकल्प | 3. प्राधान्य |
| 4. बल | 5. काल | |

1. **संख्या सम्प्राप्ति** – चरक सूत्र स्थान 19 “अष्टोदरीय” में रोगों के भेदों की संख्या बताई गई है। यथा – पंचकास, पंचगुल्म, अष्ट ज्वर आदि रोग भेद संख्या सम्प्राप्ति के अंतर्गत आते हैं। यही संख्या सम्प्राप्ति है।
2. **विकल्प सम्प्राप्ति** – दोषों की अंशांश कल्पना करना विकल्प सम्प्राप्ति है। व्याधि में दोष का कौन सा गुण, कर्म कितनी सीमा तक प्रकुपित हुआ है। इसका ज्ञान विकल्प सम्प्राप्ति से होता है।
3. **प्राधान्य सम्प्राप्ति** – किसी विशिष्ट दोष की उस रोग की उत्पत्ति में प्रधानता बताने के कारण त्रिदोषज रोगों में महत्व रखता है। त्रिदोषज व्याधियों में जिस दोष की प्रधानता होती है, उस के लक्षण भी प्रधान होते हैं। यह प्राधान्य सम्प्राप्ति है।
4. **विधि सम्प्राप्ति** – विधि प्रकार को कहते हैं, विधि (प्रकार) भेद में दो प्रकार की व्याधियां निज, आगन्तुज, त्रिदोषज भेद से तीन प्रकार की वातिक-पैत्तिक – श्लेष्मिक तथा साध्य, असाध्य मृदु, दारुण भेद से 4 प्रकार की होती हैं। यही विधि सम्प्राप्ति हैं।
5. **बल सम्प्राप्ति** – निदान, पूर्वरूप और रूपों की सम्पूर्णता या अल्पता के कारण व्याधि के बलाबल का ज्ञान जिससे होता है उसे बल रूप सम्प्राप्ति कहते हैं।
6. **काल सम्प्राप्ति** – जिस सम्प्राप्ति के द्वारा दोषों के अनुसार रात्रि, दिन, ऋतु एवं भोजन के अंशों (आदि, मध्य, अंत) से व्याधि की वृद्धि तथा हानि का निर्धारण होता है उसे काल रूपादि सम्प्राप्ति कहते हैं।

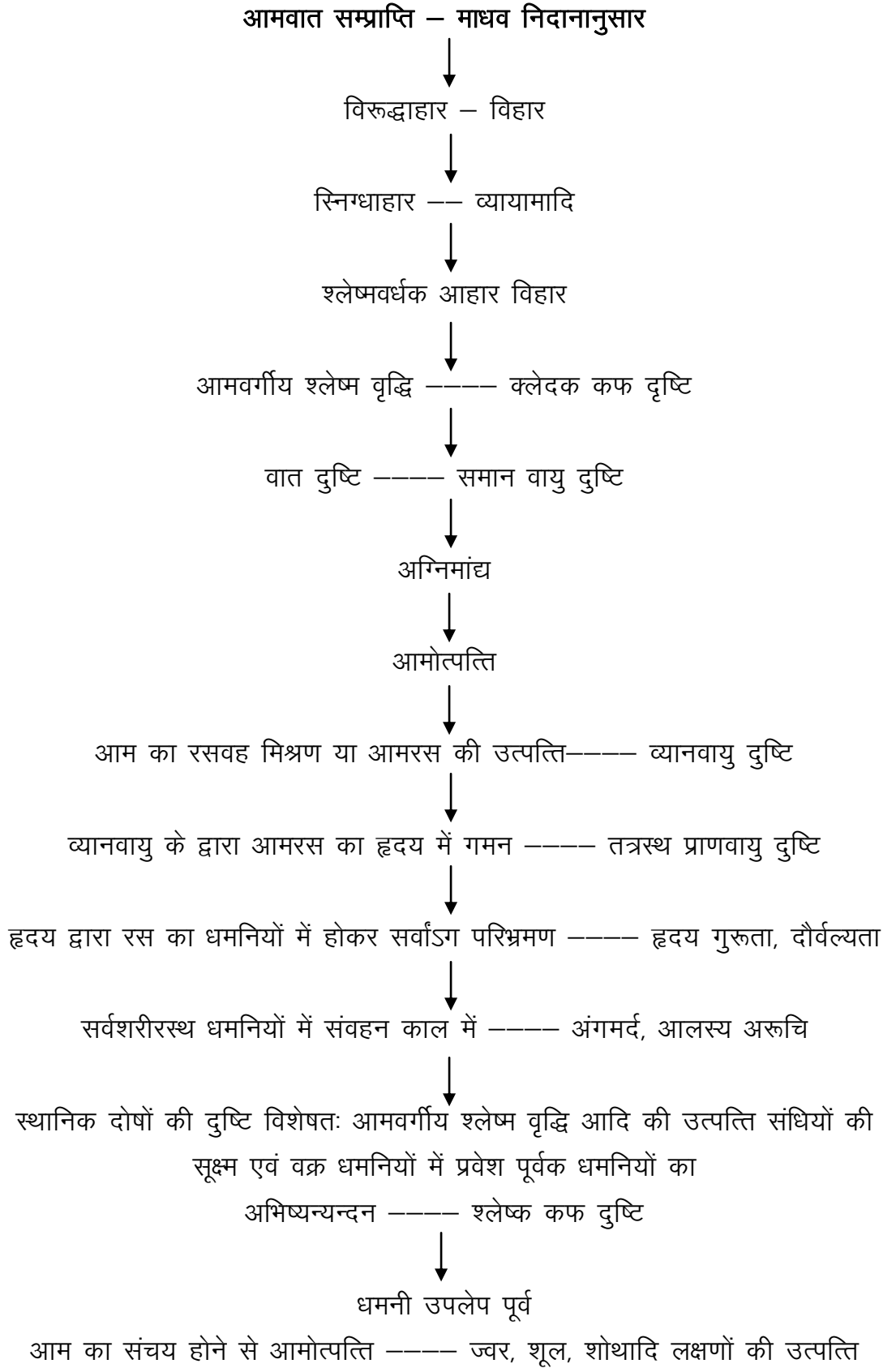
सम्प्राप्ति ज्ञान प्रयोजन – चिकित्सा वैशिष्ट्य के लिये सम्प्राप्ति का ज्ञान अनिवार्य है, इसके अभाव में दोषों की अंशांश कल्पना, बल, व्याधि की तीव्रता और मृदुता अर्थात् सकल हेतु, पूर्वरूपों से बलवत्ता एवं उनकी कल्पना से अबलवत्ता होती है। ऋतु एवं अहोरात्र सम्बन्धित काल का व्याधि से संबंध ज्ञात न होने से विशिष्ट चिकित्सा कर्म भी सम्प्राप्ति नहीं हो सकेगा। अतः सम्प्राप्ति ज्ञान का प्रयोजन मुख्यतया रोग ज्ञान एवं चिकित्सा संबंधी होता है।

रोग ज्ञान – सम्प्राप्ति रोग की सर्वाङ्ग बोधिता होती है। रोग का सविकल्प ज्ञान बिना सम्प्राप्ति ज्ञान के असंभव है। इसमें साक्षेप निदान, उपद्रव, साध्यासाध्यता एवं अरिष्टों का भेद सुगमता पूर्वक समझा जा सकता है।

चिकित्सा – आमवात में अग्नि क विकृति होकर अपक्व अन्न रस (आम) बनता है, यदि यह सम्प्राप्ति ज्ञान न हो की इस रोग का मूल अग्निदोष है तो रोग निर्मूलक चिकित्सा संभव नहीं है। इस प्रकार सम्प्राप्ति ज्ञान चिकित्सा में अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि सम्प्राप्ति विघटन ही वस्तुतः चिकित्सा है, मात्र लक्षणों के आधार पर की गई चिकित्सा को वस्तुतः चिकित्सा नहीं कहा जा सकता है।

आमवात की विशिष्ट सम्प्राप्ति :-

दोष, धातु और मलों के पोष्य व पोषक दो भेद बतलाये गये हैं। विशेष सम्प्राप्ति में पोषक दोष भाग होते हैं। विशेष सम्प्राप्ति में भी व्याधि उत्पत्ति क्रम सामान्य सम्प्राप्तिवत् ही रहता है, किन्तु विशेष दोष प्रकोपक निदानों का पूर्वोक्त निदानों के साथ अधिक मात्रा में सेवन किया जाये तो निदान, दोष प्रकोप एवं लक्षण में विशेषता आती है। जैसे – कफ प्रकोपक निदानों का अधिक सेवन करने पर आमवात के लक्षणों के साथ कण्डू, स्तैमित्यादि की अधिकता रहती है। ऐसे ही पित्त में दाह-रागादि तथा वात में शूलादि की अधिकता रहती है।



आमवात व्याधि के पूर्व रूप :-

आयुर्वेदिक वांगमय का अवलोकन करने पर आमवात व्याधि के पूर्वरूप का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु आचार्य माधव द्वारा आमवात की सम्प्राप्ति निरूपण में अल्प मात्रा में इस व्याधि के पूर्वरूप दृष्टि गोचर होते हैं –

जनयत्याशु दोर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च ।

स्तब्धं च कुरुतो मात्रामामवातः स उच्यते ।।”

इसके अनुसार 1. दौर्बल्य 2. हृदय गौरव तथा 3. गात्र स्तब्धता ये तीन आमवात व्याधि के पूर्वरूप में गिने जा सकते हैं।

1. **दौर्बल्य** – इस व्याधि में अग्नि मंदता के कारण आम अन्नरस का निर्माण होता है, जिससे आद्य रस धातु भी प्रभावित होती है, अर्थात् उसका उचित निर्माण नहीं हो पाता है। इस धातु का कार्य तर्पण करना है। अतः इस धातु का उचित सम्यक निर्माण न होने से अग्रिम धातुओं का भी पोषण नहीं हो पाता है, जिससे दौर्बल्य की उत्पत्ति होती है।
2. **हृदय गौरव** – अग्नि मंदता के कारण उत्पन्न आम रस धातु से मिलकर प्रथम रसवह स्त्रोतस के मूल हृदय में जाता है। चूंकि आम गुरु, मंद, पिच्छिल गुण युक्त होता है। इस कारण हृदय में भारीपन (गौरव) का अनुभव होता है।
3. **गात्र स्तब्धता** – व्यान वायु के द्वारा आम युक्त रस का सर्वशरीर में विक्षेपण होता है। शरीर में संचारित इस आम रस से गात्र जकड़ गये हो, ऐसा प्रतीत होता है। गात्र स्तब्धता के साथ अंग गौरवादि भी होता है।

शास्त्र में यद्यपि पूर्व रूपों का भी वर्णन मिलता है परन्तु प्रत्यक्षतः कुछ विशेष पूर्वरूप भी मिलते हैं, जिसे संभाव्य पूर्वरूप कह सकते हैं, यह निम्न है –

1. अरूचि 2. आलस्य 3. गौरव 4. उत्साह हानि ।

1. **अरूचि** – अग्निमांद्य तथा तज्जनित आम एवं रसदुष्टि से यह लक्षण मिलता है।
2. **आलस्य 3. गौरव 4. उत्साह हानि** – यह लक्षण आम और कफ जनित है, ये तीनों लक्षण सामान्यतः साथ में पाये जाते हैं। आम और कफ शीत, मंद, स्थिर, गुरु, पिच्छिल गुण होने से इन लक्षणों की अभिव्यक्ति होती है।

आमवात रोग के लक्षण : विभिन्न संहिता ग्रन्थों से
आयुर्वेद वांगमय में आमवात रोग के निम्न लक्षण प्राप्त होते हैं।

क्र.	लक्षण	मा.नि.	भा.प्र.	यो.र.	हा.सं.	अं.नि.
01	अंगमर्द	+	+	+	-	-
02	अरुचि	+	+	+	-	-
03	तृष्णा	+	+	+	-	+
04	आलस्य	+	+	+	-	-
05	अंग गौरव	+	+	+	-	+
06	ज्वर	+	+	+	+	+
07	अपाक	+	+	+	-	+
08	अंग शून्यता	+	+	+	-	-
09	हस्तपाद संधि रुजा	+	+	+	+	+
10	हस्तपाद संधि रुजा शोथ	+	+	+	+	+
11	शिरःशूल	+	+	+	+	-
12	त्रिक् शूल	+	+	+	+	+
13	अग्नि साद	+	+	+	-	+
14	प्रसेक	+	+	+	+	-
15	उत्साह हानि	+	+	+	-	-
16	आस्य वैरस्य	+	+	+	-	-
17	बहु मूत्रता	+	+	+	-	+
18	कुक्षि काठिन्यता	+	+	+	-	-
19	कुक्षि शूल	+	+	+	-	-
20	निद्राविपर्यय	+	+	+	-	-
21	छर्दि	+	+	+	-	+
22	भ्रम	+	+	+	-	-
23	मूर्च्छा	+	+	+	-	+
24	हृद ग्रह	+	+	+	-	-

25	विबन्ध	+	+	+	-	-
26	जाड्यता	+	+	+	-	+
27	आंत्रकूजन	+	+	+	-	+
28	आनाह	+	+	+	-	+
29	संधि स्तेमित्य	+	+	+	-	+
30	संधि कण्डू	+	+	+	-	-

आमवात के लक्षणों को निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :-

आमवात के लक्षण –

प्रत्यात्म लक्षण : संधि शूल, संधिशोथ एवं संचारी वेदना

सामान्य लक्षण : अंगमर्द, अंग गौरव, अरुचि, अंगशून्यता, तृष्णा, ज्वर, आलस्य, अपाक एवं विबन्ध

विशेष लक्षण : वातज आमवात – संधियों में तीव्र शूल

पित्तज आमवात – संधियों में अधिक दाह एवं राग

कफज आमवात – संधियों में स्तैमित्य, गुरुता, कण्डू

प्रारंभिक अवस्था : अंगमर्द, अंग गौरव, अरुचि अंग शून्यता, तृष्णा, ज्वर, आलस्य, अपाक, हस्त-पाद की संधियों में अल्प शूल एवं अल्प शोथ

प्रवृद्ध अवस्था : हस्त एवं पद की संधियों में वृश्चिक दंशवत् तीव्र वेदना एवं शोथ, शिरशूल, त्रिकसंधि-त्रिकास्थि-कटि-पृष्ठ-कशेरुका स्थित संधियों में रुजा तथा आंकुचन प्रसारण आदि क्रियाओं में बाधा, संधि वैकल्य, आस्य वैरस्य, कुक्षि काठिन्य, उत्साह हानि, दाह, तृष्णा, निद्रा विपर्यय, आनाह, बहुमूत्रता, भ्रम-मूर्च्छा, आंत्रकूजन, प्रसेक छर्दि

स्थानिक लक्षण : संधि शोथ, संधि दाह, संधि शूल, संधि त्वचा राग, संधि जाड्यता, संधि वैकल्य, संधि की क्रियाओं में बाधा या अकर्मण्डयता, संधि में अपाक।

सार्वदैहिक लक्षण : अंगमर्द, अंग गौरव, स्तैमित्य, आलस्य, उत्साह हानि, अंगशून्यता, दाह, कण्डू, ज्वर, मूर्च्छा

अन्य लक्षण : अग्निपाद, तृष्णा, बहुमूत्रता, अविपाक, कुक्षिकाठिन्य, निद्राविपर्यय, विबन्ध, कुक्षिशूल, भ्रम, प्रसेक, आंत्रकूजन, छर्दि, आनाह

दोष लक्षण : वात दोष लक्षण – आस्य वैरस्य, अंगमर्द, संधिशूल, कुक्षिशूल, उत्साह हानि, आंत्रकूजन, भ्रम, आनाह, विबन्ध निद्रा विपर्यय

पित्त दोष – ज्वर, भ्रम, संधि दाह राग, तृष्णा, मूर्च्छा, दाह

कफ दोष लक्षण – अरुचि, आलस्य, कण्डू, प्रसेक, अंगगौरव, निद्रा विपर्यय, अग्निसाद, स्तेमित्य, संधि शोथ, अपाक, उत्साह हानि, संधि जाड्यता

दूष्य लक्षण – रसज – अरुचि, प्रसेक, आस्य वैरस्य, हृदय गौरव, अंगमर्द, अंग गौरव, तृष्णा, ज्वर, रक्तज, संधिराग

स्रोतस लक्षण –

अ.	उदकवह	तृष्णा
ब.	अन्नवह	अरुचि, अपाक, छर्दि
स.	रसवह	अरुचि, प्रसेक, अंगगौरव, हृदयगौरव, अंगमर्द, तृष्णा
द.	मूत्रवह	बहु मूत्रता
ई.	पुरीषवह	विबन्ध

उपशयानुपशय –

व्याधि के लिये असात्म्य परन्तु व्याध्युपसृष्ट प्राप्ति के लिये सद्यः एवं कालान्तर में हितकर समस्त आहार विहारादि भाव उपशय कहे जाते हैं। चरकाचार्य ने अनुमान परीक्षा गम्य भावों का निर्देश करते समय, गूढ लिंग व्याधि की परीक्षा उपशयानुपशय से करने के विधान बताया है।

आमवात व्याधि के उपशय :-

1. रुक्ष स्वेद
2. गुग्गुल से अधिक एवं त्वरित लाभ
3. लंघन

रुक्ष स्वेद : स्वेद दो प्रकार का होता है। अ— स्निग्ध स्वेद ब— रुक्ष स्वेद, शूल प्रधान व्याधियों में स्वेद से कुछ लाभ अवश्य होता है। आमवात में आम एवं कफ पिच्छिल, गुरु, मंद, शीत होने के कारण स्निग्ध स्वेद से उनकी वृद्धि होकर वेदना अधिक होना स्वाभाविक है। संधियों में शूल की व्याधियों में केवल आमवात ही ऐसी व्याधि है जिसका

विनिश्चय रूक्ष स्वेद रूप उपशय से होता है। रूक्ष स्वेद में बालुका एवं तुषकी पोटली का स्थानिक प्रयोग किया जाता है।

गुग्गल से अधिक एवं त्वरित लाभ : गुग्गल के प्रयोग से आमवात में त्वरित लाभ होता देखा गया है। इस उपशय से आमवात से आमवात का वातरक्त से प्रथकत्व होता है क्योंकि वातरक्त में गुग्गल विशेष लाभप्रद नहीं होता है। यह प्रत्यक्षतः है।

लंघन : आमवात में आम और साम वात का आधिक्य होने के परिणाम स्वरूप लंघन कराने से आम की उत्पत्ति न होने पर व्याधि की उत्पत्ति रुक जाती है, जबकि संधिगत वात एवं वातरक्त आदि संधिगत रोगों में निरामवात होने से लंघन कराने पर व्याधि की वृद्धि होती है अतः यह उपशय संधिगत अन्य व्याधि से आमवात को प्रथक करने में सहायक होता है।

आमवात के अनुपशय –

अभ्यंग से वेदना वृद्धि : आमवात में सामवायु प्रधान है सामवायु के लक्षणों में “स्नेहाद्यैः वृद्धिमाप्नोति” अर्थात् स्नेह से वृद्धि होना बताया गया है, व्यवहार में आमवात रोग में अभ्यंग का प्रयोग किया जाता है। यह अभ्यंग वातनाशक औषधियों से सिद्ध किया हुआ रहता है यदि विशुद्ध स्नेह से अभ्यंग कराया जाय तो आमवात में वेदना की वृद्धि होती है।

सापेक्ष निदान –

परस्पर भिन्न-भिन्न रोगों में लक्षण साम्यता होने पर व्याधि विनिश्चयार्थ विभेदक लक्षणों के द्वारा रोग निर्णय करना, सापेक्ष कहलाता है।

समान रूप वाली व्याधियों को देखकर उसमें से किसी एक व्याधि के निदान में कठिनाई होना स्वाभाविक है, इसी निवारणार्थ सापेक्ष निदान का सहारा लिया जाता है। व्याधि विनिश्चय एवं चिकित्सा दोनों के लिये सापेक्ष निदान महत्वपूर्ण है क्योंकि सापेक्ष निदान के द्वारा व्याधि विनिश्चय होने पर ही व्याधि परक योग्य चिकित्सा आरंभ हो सकती है।

आमवात का मुख्य लक्षण जो अन्य व्याधियों में भी मिलता है वह संधियों में वेदना, संधि शोथ एवं ज्वर का होना है। अतः आमवात की अन्य व्याधियों से पृथकता करने के लिये सापेक्ष निदान करना आवश्यक हो जाता है। निम्न व्याधियों में आमवात सदृश्य लक्षण प्राप्त होते हैं।

- | | | |
|------------------------|----------------|--------------------|
| 1. वातरक्त | 2. संधिगत वात | 3. क्रोष्टुक शीर्ष |
| 4. अस्थिमज्जागत वात | 5. सामवात | 6. फिरंग |
| 7. संधिगतसन्निपात ज्वर | 8. त्वग्गत वात | 9. कफावृतव्यान |

आमवात व्याधि का सापेक्ष निदान दर्शक तालिका :

(1)	आमवात	वातरक्त
1.	दोष – सामवायु	दोष – वात
2.	दूष्य–रस, आम की प्रधानता	दूष्य–रक्त, आम की प्रधानता नहीं
3.	स्त्रोतस – रसवह	स्त्रोतस – रक्तवह
4.	प्रायः ज्वर रहता है	प्रायः ज्वर नहीं रहता है
5.	रक्तदुष्टि के लक्षण नहीं मिलते	रक्तदुष्टि के लक्षण यथा सुप्ति, मण्डलोत्पत्ति
6.	सामान्यतया प्रारंभ बड़ी संधियों से होता है	प्रारंभ छोटी संधियों से
7.	संचारी वेदना होती है	संचारी वेदना का अभाव
8.	अभ्यंग से वेदना वृद्धि होती है	अभ्यंग से वेदना में लाभ
9.	गुग्गल के प्रयोग से अधिक लाभ होता है	गुग्गल से अधिक अलाभ
10.	इसकी रक्तमोक्षण चिकित्सा नहीं है	रक्तमोक्षण चिकित्सा है
11.	हृदय विकृति प्रवृद्धवस्था में मिलती है	हृदय विकृति नहीं
(2)	आमवात	संधिगतवात
1.	आम की प्रधानता होती है	आम की प्रधानता नहीं
2.	संचारी वेदना होती है	संचारी वेदना का अभाव
3.	व्याधि आशुकारी है	व्याधि चिरकारी है
4.	इसमें वृश्चिक दंशवत् तीव्र वेदना होती है	इसमें अल्पवेदना होती है
5.	प्रायः सज्वर आक्रमण होता है	सज्वर आक्रमण नहीं
6.	इसमें अभ्यंग से वेदना की वृद्धि होती है	वेदना का शमन
7.	वायु साम होती है	वायु निराम होती है।

(3)	आमवात	क्रोष्टुकपीर्ष
	<ol style="list-style-type: none"> 1. इसमें अनेक संधियों में वेदना होती है 2. सामान्य प्रकार का शोथ होता है 3. इसमें संचार वेदना होती है 4. इसमें रसदुष्टि के लक्षण मिलते हैं 	<p>केवल जानु संधि में वेदना शोथ की विशेष आकृति संचारी वेदना का अभाव रक्तदुष्टि के लक्षण</p>
(4)	आमवात	अस्थिमज्जागतवात
	<ol style="list-style-type: none"> 1. इसमें आम की प्रधानता होती है 2. संचारी वेदना होती है 3. एक से ज्यादा संधियों में शूल होता है 4. प्रायः ज्वर रहता है 5. स्तब्धता विशेष रहती है 6. अभ्यंग से व्याधि की वृद्धि होती है 7. प्रायः हृदय विकृति होती है 	<p>आम की प्रधानता नहीं संचारी वेदना का अभाव संधियों में भी शूल ज्वर नहीं रहता है स्तब्धता— अल्प या नहीं अभ्यंग से शमन हृदय विकृति नहीं</p>
(5)	आमवात	फिरंग
	<ol style="list-style-type: none"> 1. इसमें संक्रमणवृत्त नहीं मिलता है 2. किसी भी वय में होता है 3. इसमें गुह्यांग में चिन्ह नहीं मिलते हैं 4. सार्वदैहिक त्वचा पर व्रण नहीं मिलते 5. आशुकारी व्याधि है 6. इसमें आम की प्रधानता होती है 7. रसदुष्टि के लक्षण मिलते हैं 8. पुनः—पुनः आक्रमणशील व्याधि है 9. इसमें लंघन से लाभ होता है 10. गुग्गुलु से लाभ होता है 	<p>इसमें संक्रमणवृत्त मिलता प्रायः यौवावस्था गुह्यांग में चिन्ह मिलते हैं सार्वदैहिक त्वचा पर व्रण चिरकारी व्याधि है आम की प्रधानता नहीं रक्तदुष्टि के लक्षण आक्रमण का अभाव कोई लाभ नहीं होता गुग्गुलु से लाभ नहीं</p>

<p>(6) आमवात</p> <ol style="list-style-type: none"> 1. संधियो में तीव्र वेदना होती है 2. यह दोषदूष्य सम्मूर्च्छना जनित व्याधि है 3. हृदरोग जैसे उपद्रव मिलते है 	<p>सामवात</p> <p>सम्पूर्ण शरीर में अंगमर्द दोषदूष्यसम्मूर्च्छना नहीं इसमें उपद्रव नहीं मिलते है</p>
<p>(7) आमवात</p> <ol style="list-style-type: none"> 1. संचारी वेदना होती है रहता है 2. सन्निपात के सामान्य लक्षणों का आभाव होता 3. इसमें पाक का अभाव रहता है 4. लक्षण रूप में कास का अभाव रहता है 5. बहुमूत्रता मिलती है 6. उपद्रव स्वरूप हृदरोग होता है 	<p>संधिग सन्निपात ज्वर</p> <p>संचारी वेदना का अभाव सामान्य लक्षण यथा—चक्षु, कर्ण, कण्ठ मुख जिह्वा विकृति के लक्षण, रक्तष्ठीवन मिलते है। इसमें पाक होना संभव है कास संभव है अल्प मूत्र प्रवृति होती है हृदरोग नहीं मिलता है</p>
<p>(8) आमवात</p> <ol style="list-style-type: none"> 1. त्वक् विकृति के लक्षण नहीं मिलते है 2. इसमें आम की प्रधानता होती है 3. संचारी वेदना होती है 4. अभ्यंग से रोग की वृद्धि होती है 	<p>त्वकगत् वात</p> <p>त्वक् विकृति यथा—रूक्षता, स्फुटितता, कृष्णवर्ण आदि मिलते है। आम की प्रधानता नहीं संचारी वेदना का आभाव अभ्यंग से शमन</p>
<p>(9) आमवात</p> <ol style="list-style-type: none"> 1. आम की प्रधानता रहती है 2. अभ्यंग से वेदना की वृद्धि होती है 3. आम एवं वात की चिकित्सा प्रधान है 	<p>कफावृत व्यान</p> <p>आम की प्रधानता नहीं अभ्यंग से शमन कफ की चिकित्सा प्रधान</p>

उपद्रव :-

उपद्रवों का आयुर्वेद शास्त्र में काफी महत्व है। शास्त्रों में “उपद्रव” की अनेक परिभाषायें मिलती हैं जो निम्न हैं :-

1. “व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तर कालजः।
उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते।।
जिस दोष से व्याधि उत्पन्न हो इसी दोष से मुख्यव्याधि के पश्चात् उत्पन्न होने वाला विकारान्तर ही उपद्रव कहलाता है।
2. “तत्र उपद्रवों रोगारंभक दोष प्रकोप जन्योऽन्य विकारः।।
प्रमुख रोगारंभक दोष प्रकोप से उत्पन्न अन्य व्याधि (विकार) ही उपद्रव है।
3. उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयों रोग एवं स्थूलोऽणुर्वा, रोगात् पश्चाज्जागत इत्युपद्रवसंज्ञः। तत्र प्रधानों व्याधिः, व्याधेर्गुणभूत उपद्रवः तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति।
जो रोग होने के उत्तरकाल में उत्पन्न हो, रोग के ही आश्रित हो, रोग का अप्रधानभूत हो, उपद्रव कहा जाता है। प्रधान (रोग) के शांत हो जाने पर अप्रधान (उपद्रव) की शांति स्वयं ही हो जाती है।
4. तत्रौपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिजघनयकाल जातो व्याधिरूपसृजाति स तन्मूल एवोपद्रव संज्ञः।
जो प्रथम उत्पन्न हुयी व्याधि के उत्तरकाल में उत्पन्न होता है तथा उसी के साथ मिलता है तथा व्याधि के मूल में उसका मूल है, वह औपसर्गिक या उपद्रव संज्ञक व्याधि है।
आमवात रोग में कुछ ऐसे बलवान उपद्रव होते हैं जिनके लिये विशिष्ट उपक्रम की आवश्यकता रहती है। यद्यपि शास्त्र में आमवात के उपद्रवों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। माधवनिदान के अनुसार – “कष्टांचान्यानुपद्रवान्”। जिसकी टीका में – “अन्यानुपद्रवान संकोच खंज त्वादीन”।। ऐसा बताया है। आंतक दर्पण टीकाकार ने – “अन्यान्युपद्रवानानिति वात व्याधि निदानों क्तान्”। लिखा है।

आमवात उपद्रव तालिका

क्रम संख्या	उपद्रव नाम	अंजन निदान	योगरत्नाकर	सिद्धांत निदान
01	जाड्य	+	+	-
02	आंत्रकूजन	+	+	-
03	आनाह	+	+	-
04	तृष्णा	+	+	-
05	छर्दि	+	+	-
06	बहुमूत्रता	+	+	-
07	तीव्रशूल	+	-	+
08	निद्रा नाश	+	-	-
09	लसिका संचय	-	-	+
10	चिरपाक	-	-	+
11	दारुण संधिशोध	-	-	+
12	क्रोष्टुशीर्ष	-	-	+
13	खंजता	-	-	+
14	व्रणशोथ	-	-	+
15	अग्निमांद्य	-	+	-
16	प्रसेक	-	+	-
17	अरुचि	-	+	-
18	गौरव	-	+	-
19	उत्साह हानि	-	+	-
20	वैरस्य	-	+	-
21	दाह	-	+	-
22	ग्रहणी दोष	-	+	-
23	कृक्षि काठिन्य	-	+	-
24	निद्रा विपर्यय	-	+	-
25	कृक्षि शूल	-	+	-

26	भ्रम	-	+	-
27	मूर्च्छा	-	+	-
28	हृदग्रह	-	+	-
29	विड् विबद्धता	-	+	-
30	हस्तपाद संधि शूल शोथ	-	+	-

इसके अतिरिक्त आमवात की प्रवृद्धावस्था के लक्षणों को भी उपद्रव स्वरूप मान सकते हैं। हृदग्रह, प्रवृद्ध आमवात के लक्षणों में मुख्य है इसको उपद्रव के रूप में लेना अधिक युक्तियुक्त है। वात व्याधि के उपद्रवों में वर्णित विसर्प भी प्रत्यक्षतः देखा जाता है। अतः आमवात में निम्न लक्षण उपद्रव स्वरूप ले सकते हैं –

1. संकोच
2. खंज – पंगु
3. हृद्‌रोग
4. विसर्प

साध्यासाध्यता :

किसी भी रोग के उपचार के पूर्व उसकी साध्यसाध्यता का ज्ञान करना अनिवार्य है क्योंकि असाध्य रोगी की चिकित्सा करने पर शमन तो होता ही नहीं है अपितु चिकित्सक को यश की हानि, ज्ञान की निन्दा, लोकापवाद एवं आक्रोश का पात्र बनना पड़ता है। अतः रोग निश्चय के साथ ही रोग की साध्यसाध्यता का विनिश्चय करने के पश्चात् ही केवल साध्य रोगियों की चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिये जिनके समुचित उपचार से रोगोपशम की अत्याधिक संभावना हो, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि असाध्य रोगी की उपेक्षा की जाये। एतदर्थ भैषज्य रत्नावली आदि संग्रह ग्रंथों में रोगी के प्राण शेष रहने तक सतत चिकित्सा करते रहने का उपदेश वर्णित है जो मानवीय कर्तव्यों की दृष्टि से उचित भी है।

प्रभाव भेद से रोग के दो भेद होते हैं यथा –

“द्वे रोगानीके भवतः प्रभाव भेदेन – साध्यमसाध्यं च।”

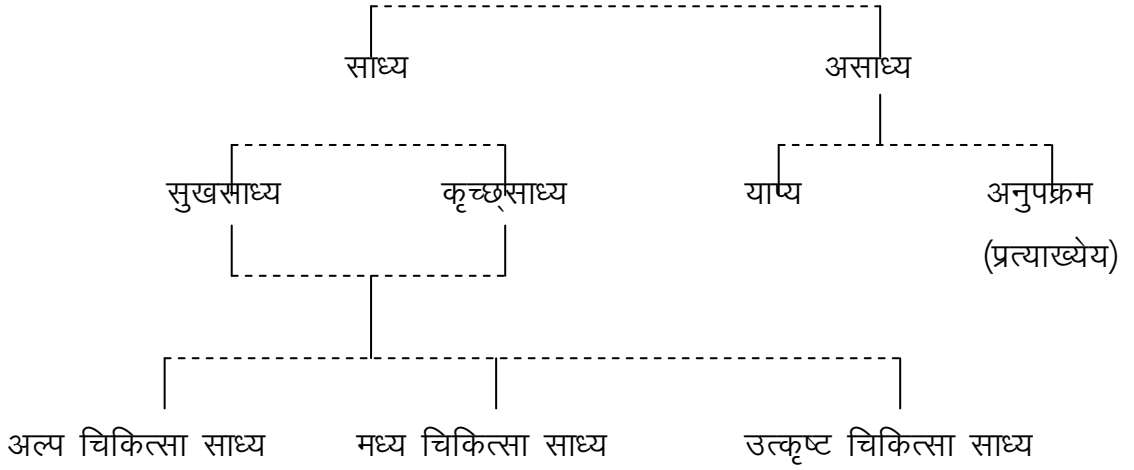
साध्यासाध्यता की दृष्टि से व्याधि चार प्रकार की होती है।

1. सुख साध्य
2. कृच्छ साध्य
3. याप्य
4. प्रत्याख्येय (अनुपक्रम)

“सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छसाध्यमथापि च।

द्विविधं चाप्य साध्यं स्याद्याप्यं यच्चानुपक्रमम्।।”

व्याधि



आमवात व्याधि के साध्यासाध्यता :-

शास्त्र में आमवात की साध्यासाध्यता के संबंध में अति संक्षिप्त रूप में वर्णन मिलता है। दोषों के अनुबंध के आधार पर शास्त्र में एक दोषानुबंधी साध्य, द्विदोषानुबंधी याप्य तथा सर्वदेहचर शोथ से युक्त त्रिदोषज आमवात को कृच्छ्रसाध्य माना गया है यथा —

“एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते ।

सर्वदेहचरः शोथः सः कृच्छ्रः सान्निपातिकः ।।”

साध्यता दोषानुसार — एक दोषज — तीनों आमवात साध्य

लक्षणानुसार — प्रारंभिक आमवात साध्य

व्याध्यवस्थानुसार — नवीन आमवात साध्य

कृच्छ्रसाध्यता दोषानुसार — त्रिदोषज आमवात कृच्छ्रसाध्य

लक्षणानुसार — प्रवृद्ध आमवात कृच्छ्रसाध्य

व्याध्यवस्थानुसार — जीर्ण आमवात कृच्छ्रसाध्य, सर्वांगशोथी आमवात

कृच्छ्रसाध्य

याप्यता दोषानुसार — द्विदोषज — तीनों आमवात याप्य

दोषों के अतिरिक्त आमवात व्याधि की साध्यासाध्यता का ज्ञान निम्न तथ्यों के आधार पर करना उचित होगा ।

1. देशानुसार प्रकार – 1. जांगल 2. आनूप 3. साधारण
 आमवात व्याधि में देश अर्थात् भूमि परिवर्तन उसकी साध्यासाध्यता पर प्रभाव डालती है।
 जांगल देश में उत्पन्न आमवात – साध्य
 आनूप देश में उत्पन्न आमवात – कृच्छ्रसाध्य या याप्य
 साधारण देश में उत्पन्न आमवात – साध्य होता है
2. कालानुसार –
 नवीन आमवात – साध्य
 जीर्ण आमवात – कृच्छ्रसाध्य या असाध्य
 आदान काल में उत्पन्न आमवात – साध्य
 विसर्ग काल में उत्पन्न आमवात – कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होता है।
3. अग्निबलानुसार – शरीर में जठराग्नि के चार प्रकार बताये गये हैं।
 1. तीक्ष्णाग्नि 2. विषमाग्नि 3. समाग्नि 4. मन्दाग्नि
 जठराग्नि की तीक्ष्णावस्था में आमवात व्याधि – साध्य
 जठराग्नि की विषमावस्था में आमवात व्याधि – याप्य
 जठराग्नि की समावस्था में आमवात व्याधि – साध्य
 जठराग्नि की मन्दावस्था में आमवात व्याधि – कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होती है।
4. सत्वानुसार –
 प्रवर सत्व युक्त मनुष्य में व्याधि – साध्य
 मध्यम सत्व युक्त मनुष्य में व्याधि – याप्य
 अवर सत्व युक्त मनुष्य में व्याधि – प्रत्याख्येय या असाध्य होती है।
5. वयानुसार –
 बाल्यावस्था में आमवात रोग – साध्य अथवा कृच्छ्रसाध्य
 युवावस्था में आमवात रोग – साध्य
 प्रौढ़ावस्था में आमवात रोग – कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य होता है।
6. बलानुसार –
 प्रवर बल युक्त पुरुष में व्याधि – साध्य
 मध्यम बल युक्त पुरुष में व्याधि – याप्य
 अल्प बल युक्त पुरुष में व्याधि – असाध्य होती है।

आमवात चिकित्सा :

शरीर में दोषों का विषम होना अर्थात् रोग एवम् जिन क्रियाओं के द्वारा दोषों की विषमता नष्ट कर समता प्रस्थापित करना यही चिकित्सा है।

और भी जिन क्रियाओं के द्वारा शरीर में धातुयें सम होती हैं वह चिकित्सा है।

चिकित्सा के दो मूल तत्व हैं –

१. निदान परिवर्जन
२. धातुसाम्यार्थ प्रवृत्ति या उपाय

प्रत्येक रोग की चिकित्सा में तीन कर्म प्रधान हैं। यह चिकित्सा कर्म व्याधि अनुसार यथाविधि करना चाहिए।

- चिकित्साकर्म –
१. संशोधन (शोधन)
 २. संशमन (शमन)
 ३. निदान परिवर्जन

१) शोधन चिकित्सा : जो द्रव्य उर्ध्वभाग अर्थात् मुख, नासिका और अधोभाग गुदा दोनों मार्गों से कुपित वातादि दोषों को शरीर से बाहर निकाले उसे शोधन चिकित्सा कहते हैं। इस शोधन चिकित्सा में निरुह एवं अनुवासन बस्ति, वमन, विरेचन, शिरोविरेचन व रक्तमोक्षण ये कर्म आते हैं।

आचार्य सुश्रुत ने निरुह वा अनुवासन अलग-अलग न मानकर इसे बस्तिकर्म से सम्बोधित किया गया व रक्तमोक्षण पाँचवा कर्म माना है।

२) शमन चिकित्सा : जो औषधद्रव्य दोषों को शरीर से बाहर न निकालता है, न उन्हें उदीर्ण करता है। परंतु विषम दोषों को साम्यावस्था में लाता है उसे शमन कहते हैं। यह चिकित्सा सात प्रकार की है।

१. पाचन २. तृष्णानिग्रह ३. दीपन ४. क्षुधानिग्रह ५. व्यायाम ६. आतपसेवन ७. मारुतसेवन

आचार्य वाग्भट ने चिकित्सा के दो उपक्रम बताये हैं।

१. सन्तर्पण चिकित्सा
२. अपतर्पण चिकित्सा

आचार्य चरक ने उपरोक्त चिकित्सा के दो उपक्रमों को छः उपक्रमों में वर्णित किया है। यथा – १. लंघन २. बृंहण ३. रुक्षण ४. स्वेदन ५. स्नेहन ६. स्तंभन

इनमें बृंहण, स्नेहन, स्तंभन सन्तर्पण चिकित्सा के अन्तर्गत तथा लंघन, रुक्षण व स्वेदन अपतर्पण चिकित्सा के अन्तर्गत गृहीत होते हैं।

आमवात का चिकित्सा सूत्र :

लंघनं स्वेदनं तिक्तं दीपनानि कटूनि च।

विरेचनं स्नेहपानं बस्तयश्चाम माकते॥

रुक्षः स्वेदोविधातव्यो बालुका पुटकैस्तथा।

उपनाहाश्च कर्तव्यास्तेऽपि स्नेह विवर्जितः॥ भा.प्र. २६।१४-१५

आमवात की चिकित्सा में प्रथम आम के पाचन हेतु लंघन का विधान है। इस रोग के मूल में आमोत्पत्ति हेतु होने से लंघन ही आम के उद्भव को रोकने हेतु उत्तम है, अतः सर्वप्रथम लंघन करना चाहिये।

आमपाचन हेतु बाह्यतः वालु इत्यादि रुक्ष पदार्थों से पोष्टली स्वेद अथवा स्नेह रहित पदार्थों का उपनाह करके स्वेद करना चाहिए। तिक्त एवं कटु रसात्मक दीपन औषधि द्रव्यों का आभ्यन्तर उपयोग करना चाहिए तथा आवश्यक विरेचन, स्नेहपान व बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

१. लंघन : विरुद्धाशनादि हेतुओं से अग्निमांद्य उत्पन्न होकर आमोत्पत्ति होती है। लंघन से अग्निदीप्ति होकर आम का पाचन होता है। अतः रुग्ण के बलाबल का विचार करते हुए लंघन का प्रयोग करना चाहिए।

२. स्वेदन : आमवात में रुक्ष स्वेद किया जाता है क्योंकि आम स्निग्ध स्वरूपी होने से आमवात में स्निग्ध स्वेदन निषिद्ध है। अतः रुक्ष स्वेद हेतु वालुका पोष्टली अथवा उष्ण द्रव्य से निर्मित स्नेह रहित उपनाह का प्रयोग किया जाता है। उपनाह से आम का विम्लापन होकर शोथ कम होता है। स्वेदन प्रयोग से स्रोतसों का अवरोध कम होता है एवं स्रोतोरोध कम होने से शोथ कम होता है। सेक हेतु निर्गुण्डी पत्र, एरण्ड पत्र, हरिद्रा

आदि की पोटली या लहसुन पिण्ड का विधान बताया गया है। स्थानिक शोथ कम करने हेतु एरण्ड पत्रबंधन (स्वेद) गुणकारी बताया है।

3. दीपन एवं पाचन : अग्नि की मन्दता आमवात की उत्पत्ति का एक हेतु है। अतः अग्नि को प्रदीप्त करने वाले पंचकोल चूर्ण, अजमोदादि चूर्ण, वैश्वानर चूर्ण आदि का उपयोग करना चाहिए। औषधों के रूप में संधिस्थान पर कार्य करने वाले गुग्गुलु के विविध कल्प सिंहनाद गुग्गुलु, रास्नादि गुग्गुलु, त्रयोदशांग गुग्गुलु श्रेष्ठ है जिससे आम पाचन, अग्निदीपन एवं वातानुलोमन होता है।

4. विरेचन : सामान्यतः आचार्यों ने आमदोष का शोधन करना निषिद्ध माना है। दीपन पाचन के सिवा शोधन देने से जिसप्रकार अपक्व फल से रस निकालने का प्रयास किया तो फल का नाश हो जाता है, उसी तरह धातु का नाश होता है एवं वर्तमान लक्षणों में वृद्धि पायी जाती है। अतः आमवात के रुग्णों में दीपन पाचन के पश्चात विरेचन देना हितकारक है।

विरेचन के लिए एरण्ड स्नेह, पंचसकार, त्रिफला, गंधर्वहरीतकी आदि दिया जाता है। इसमें एरण्ड स्नेह प्रशस्त है क्योंकि एरण्ड स्नेह से आमपाचन, वायु का शमन एवं मलदोषों का शोधन होता है।

9. स्नेहपान : आमवात में आमपाचन पश्चात वायु का शमन करना आवश्यक है। वायु के निराम होने पर केवल वातशमन हेतु चित्रकादि घृत, अमृताप्राशघृत, श्रृंगवेराद्यघृत आदि का आवश्यकतानुसार उपयोग बताया गया है।

6. बस्ति : आमवात के उत्पत्ति में वायु का महत्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि वायु से प्रेरित होकर ही यह आम आमाशय, हृदय, संधियों आदि कफस्थानों की ओर जाता है। अतः वायु का मूलस्थान पक्वाशय होने से वातशमन हेतु बस्ति चिकित्सा हितकारक है।

पक्वाशय वातशमन हेतु एरण्डमूल क्वाथ, दशमूल क्वाथ, सैध्वादि तैल, नारायण तैल, क्षारबस्ति प्रयोग श्रेष्ठ माना गया है। क्षार बस्ति शोधन बस्ति होने से मलदोषों का शोधन, वायु का अनुलोमन एवं शमन करती है तथा अग्निदीपन करती है। इसलिए क्षारबस्ति का आमवात व्याधि में चयन किया गया।

RHEUMATOID ARTHRITIS

EVOLUTION OF RHEUMATOID ARTHRITIS :

The term 'Rheumatoid Arthritis' has been coined by Sir Alfred Baring Garrod, physician to the West London Hospital in 1859. He expressed as his statement to amply an inflammatory affection of the joint not unlike rheumatism in some of its characters but differing materially from it. Since then gradually this term has been adopted throughout the world.

Thus we see that this term is very recent in modern medicine before coming to this conclusion, recognition of this disease has an interesting history. Aretes who lives in first century A.D. gave a good account of condition recently rheumatoid arthritis, describing the onset in smaller joints with spread to others as well as systemic changes and deformities. He also stated that true cause of arthritis was unknown. But all these description continued to be under the term arthritis up to the middle age. (*Short, 1959*)

Thus in short it can be recorded that all types of joint lesions have been considered under one heading arthritis, up to the middle age. Gradually, rheumatic fever, gout, osteoarthritis, infective arthritis and other collagen diseases have been differentiated from rheumatoid arthritis.

But even today so many variants of rheumatoid arthritis are available, which are grouped together. They are juvenile rheumatoid arthritis, ankylosing spondylitis, felt's syndrome, psoriatic arthritis, arthritis of ulcerative colitis and palindromic rheumatism. The reason being that they are quite similar in their clinical manifestations, serological changes, radiological changes and management. Such difficulty is also because the etiology of rheumatoid arthritis unknown.

From the above description it is evident that the term rheumatoid arthritis has been recently introduced in modern medicine and the entity of these diseases has been a subject of discussion in all times.

Rheumatoid Arthritis is a chronic multisystem disease of unknown cause and can be defined as a chronic polyarthritis affecting mainly the more peripheral joints, running a prolonged course with exacerbation and remission and accompanied by a

general systemic disturbance. The disease is characterized by swelling of the synovial membrane and periarticular tissues, subchondral osteoporosis erosion of cartilage and bone and wasting of the associated muscles. A systemic connective tissue disorder which affects predominantly the synovial joint, hence the term Rheumatoid disease.

Rheumatoid arthritis can be defined as a chronic polyarthritis affecting mainly the more peripheral joint, running a prolonged course with exacerbation and remission and accompanied by a general systemic disturbance. The disease is characterized by swelling of the synovial membrane and periarticular tissues. Subchondral osteoporosis erosion of cartilage and bone and wasting of the associated muscles.

A systemic connective tissue disorder which affects predominantly the synovial joint, hence the term rheumatoid disease.

The disease : Arthritis is a disorder has afflicted man since time immemorial. The bones of prehistoric man have shown evidence of this crippling disorder. Arthritis means inflammation of the joints. It is derived from the Greek words arthron which means joint and it is which means inflammation. One of the earliest diseases known to us, arthritis remains a major cause of chronic pain and disability. This group of disease is estimated to account of at least 10 to 15% of all out patient evaluations. Because acute and chronic inflammation of joints occurs with many disease, the scope and spectrum of arthritis can be very complex unless of pattern of recognition and treatment is established. In most cases, arthritis is simply the tip of ice-berg, the most apparent manifestation of some complex and for removed immunological or inflammatory disorder.

The inflammation of arthritis starts in the synovium the first reaction of which is to increase the production of joint fluid. Excess joint fluid first distend the synovial space and any connecting bursa or tendon sheaths. While the joint tissues are slake, the intra-synovial pressure rises slowly at first and with increasing fluid, it climbs up steeply. Inflammatory synovial effusions contain irritator mediators of inflammation which diffuse from the distended synovial cavity into the surrounding tissues even to the overlying skin causing the other cardinal signs of inflammation, namely heat, redness and pain with loss of function. Arthritis affects are groups starting from two years and going up to eighty years.

CLASSIFICATION :

The rheumatic disease embrace an amazingary of hereditary and acquired disorders with a wide variety of clinical features. As per the present understanding, rheumatic disorders can be classified under three headings -

- 1. Diffuse Systemic** - Rheumatoid arthritis, seronegative spondyloarthritis, systemic lupus erythematosus, sclerodema.
- 2. Localised Articular** - Osteoarthritis, crystal induced arthritis, traumatic arthritis.
- 3. Non-Articular** - Fibromyalgia, low back pain, tenosynovitis.

EPIDEMIOLOGY :

Rheumatoid arthritis occurs throughout the world and in all ethnic groups. Climate, altitude and geography do not appear to influence its prevalence but a higher proportion of patients in Western and urban communities have more severe and disabling disease. The overall prevalence of rheumatoid arthritis in Caucasian populations is about 1% with a female to male ratio of 3:1. The disease starts most commonly between the third and fifth decades but the age of onset follows a normal distribution curve and no age group is exempted. With an annual incidence of new cases of about 0.02%, 5% of women and 2% of men over the age of 55 years are affected.

GENETICS :

Family studies indicate a genetic predisposition, for example severe rheumatoid arthritis is found at approximately four times the expected rate in first degree relatives of individuals with disease associated with the presence of the autoantibody, rheumatoid factor, approximately 10% of patients with Rheumatoid arthritis will have an affected first degree relative. Moreover, monozygotic twins are at least four times more likely to be concordant for rheumatoid arthritis than dizygotic twins; who have a similar risk of developing rheumatoid arthritis as nontwin siblings. Approximately only 15 to 20% of monozygotic twins are concordant for rheumatoid arthritis.

AETIOLOGY :

The cause of rheumatoid arthritis remains unknown. It has been suggested that rheumatoid arthritis might be a manifestation of the response to an infectious

agent in genetically susceptible host. Because of the worldwide distribution of rheumatoid arthritis, it has been hypothesized that if an infectious agent is involved; the organism must be ubiquitous. A number of possible causative agents have been suggested, including mycoplasma, Epstein-Barr virus, cytomegalovirus, parvovirus and rubella virus, but convincing evidence that these or other infectious agent might cause rheumatoid arthritis has not emerged. The process by which an infectious agent might cause chronic inflammatory arthritis with a characteristics distribution also remains a matter of controversy. One possibility is that there is persistent infection of articular structures or retention of microbial products in the synovial tissues which generates a chronic inflammatory response. Alternatively, the micro-organism or response to the micro-organism might induce an immune response to components of the joint by altering its integrity, and revealing antigenic peptides. In this regard, reactivity to type II collagen and heat shock proteins has been demonstrated. Another possibility is that the infecting micro-organism might prime the host to cross-reactive determinates expressed within the joint as a result of 'molecular mimicry'. Recent evidence of similarity between products of certain gram negative bacteria and the HLA-DR molecule itself has supported this possibility. Finally, products of infecting micro-organism might induce the disease. Recent work has focused on the possible role of 'superantigens' produced by a number of micro-organism; including staphylococci, streptococci, and M-arthritis superantigens are the proteins with the capacity to bind to HLA-DR molecule and particular Vb segments of the heterodimeric T-cell receptor and stimulate specific T-cell expressing Vb gene products. The role of super antigens in the etiology of Rheumatoid arthritis remains speculative.

AETIOLOGICAL FACTORS :

1. Age
2. Sex
3. Diet
4. Climate
5. Personality

1] AGE - Rheumatoid arthritis is most common between 20 and 45 years but it occurs in children as Still's disease.

2] SEX - Rheumatoid arthritis affects females in a ratio of 2-3 females to one male over the age of 50 the sex incidence tends to equalize.

3] DIET - The attitude towards diet in arthritis is more liberal and less emphatic.

4] CLIMATE - Rheumatoid arthritis is predominantly a disease of temperate climates. The symptoms frequently show an exacerbation when the weather changes in the direction of cold or wet. Most common in the spring.

5] PERSONALITY - Two main hypotheses were advanced.

i) Patients with rheumatoid arthritis are more neurotic than non-arthritic, healthy controls and

ii) Personality characterised by an inability to express aggressive feelings.

PATHOGENESIS AND PATHOLOGY :

The cause of rheumatoid arthritis is still unknown. The present concept is that hidden antigens fuel the disease process in a genetically predisposed individual. Genetic predisposition is substantiated by the demonstration of HLA DR₄ in nearly 60% of rheumatoid patients. The hidden antigen could be of environmental origin as self environmental agents implicated have been bacteria, Mycoplasma and viruses. Further proof of this concept is available in the form of presence of viral particles in the cells of the synovium, which subsequently is recognized as non-self. This triggers an immuno-inflammatory response resulting in accumulation of immunocompetent monocytoïd cells and lymphocytes capable of mediating local immune response. Soluble mediators produced by these cells are important in recreating inflammatory cells that elaborate enzymes and other soluble products like collagenases, plasminogen activators etc. which are capable of destroying cartilage. The hidden antigen in the synovial cells provides directly or indirectly the chronic antigen stimulation necessary for sustaining the synovial inflammation. Activated lymphocytes and synovial tissue produced rheumatoid factor IgG have the potential for perpetuating inflammation by activating complement.

PATHOGENESIS :

1. IMMUNOGENETIC FACTORS : Immune system plays a central role in the pathogenesis. The initiating antigen triggers the observant response which becomes self perpetuating.

Auto Immunity : The presence in the serum abnormal globulins with the characteristics of antibodies in a high proportion of patient together with the histological appearances in the synovium have led to the idea that rheumatoid arthritis associated with a derangement of the immune response to exogenous antigen or to antigen derived in part at least from the patient's own tissue. The presence the antibodies which can in certain condition react with material derived from a human source suggest that they may play some part in the production of tissue damaged, although there is a yet no direct evidence in support of this hypothesis.

2. GENETICS : Family studies and in particular the analysis of twins suggest that genetics and environmental influence are important in the susceptibility to rheumatoid arthritis. Studies have demonstrated an association between HLA-D₄, HLA-DR₄ and seropositive disease. In nearly 70% of cases patient with rheumatoid arthritis are positive to these antigens and an individual with one of these antigen is 6-12 times more prone to develop rheumatoid arthritis.

3. ENDOCRINE FACTORS : There is no evidence to suggest that rheumatoid arthritis arises from any abnormality of the endocrine glands. It is now recognized that suppression of the symptoms and signs of inflammation by cortisone, hydrocortisone and their synthetic analogues are non specific in nature and due to a pharmacological rather than a physiological effect.

4. NUTRITION : There is no evidence that the dietetic habits by patients suffering from rheumatoid arthritis differ in any way from the normal. The fact that there patient are often under weight is a result rather than a cause of their disease.

PATHOLOGY :

The synovitis affects all joints tendons and bursae which have a synovial lining. The earliest changes in the synovium are vascular congestion edema, perivascular infiltration with mononuclear cells, increase in synovial A and B cells

and infiltration by polymorphonuclear cells and lymphocytes later there is aggregation of lymphocytes to form recognisable lymphoid follicles and the synovium appears to be an ectopic lymphoid organ producing rheumatoid factor. Immunofluorescence studies have shown preponderance of T lymphocytes still later the hypertrophied synovium is thrown into villi and it encroaches over the articular cartilage to form a pannus which ultimately causes erosion of cartilage, cartilage destruction is mediated by the proteases liberated by synovium, cartilage and inflammatory cells.

The earliest changes are swelling and congestion of the synovial membrane and the overlying connective tissue which become infiltrated with polymorphs, lymphocytes and macrophages. At this stage the pathological process is still reversible and no permanent damage to the joint has taken place. Subsequently hypertrophy of the synovial membrane occurs. The external capsular layer becomes thickened. Inflammatory granulation tissue or pannus is formed, which spread over and under articular cartilage with patchy destruction of the cartilage. Later fibrous adhesion may form between the layers of pannus across the joint space. The changes are no longer reversible and permanent damage to the joint has taken place. Owing to the irregular contraction of fibrous tissue in the capsule and to the adoption of a position of flexion for the relief of pain, deformities of alignment develop. Later still fibrous and even bony ankylosis may occur. In disorganized joint in which movement is still possible, secondary osteoarthritis changes appear. Effusion of synovial fluid in the joint space takes place during the active phase of the disease. Along with these changes osteoporosis occur in the part of the bones adjacent to the joint margins and there atrophy of associated muscles with round cell infiltration. Later the osteoporosis becomes generalized. Subcutaneous nodules have a characteristic histological appearance. There is central area of fibrinoid material consist of swollen and fragmented collagen fibres, fibrinogen exudate and cellular debris, surrounded by a capsule of radially arranged proliferating mononuclear cells. The nodule surrounded by a loose capsule of fibrous tissue.

CLINICAL MANIFESTATIONS :

ONSET : Characteristically, Rheumatoid arthritis is a chronic polyarthritis. In approximately two-thirds of patients, it begins insidiously with fatigue, anorexia, generalized weakness and vague musculoskeletal symptoms until the appearance of synovitis becomes apparent. This prodrome may persist for weeks or months and defy diagnosis. Specific symptoms usually appear gradually as several joints, especially those of the hands, wrists, knees, and feet, become affected in a symmetric fashion. In approximately 10% of individuals, the onset is more acute, with a rapid development of polyarthritis, often accompanied by constitutional symptoms, including fever, lymphadenopathy, and splenomegaly. In approximately one-third of patients, symptoms may initially be confined to one or a few joints. Although the pattern of joint involvement may remain asymmetric in a few patients, a symmetric pattern is more typical.

SIGNS AND SYMPTOMS OF ARTICULAR DISEASE :

Pain, swelling and tenderness may initially be poorly localized to the joints. Pain in affected joints, aggravated by movement, is the most common manifestation of established rheumatoid arthritis. It corresponds in pattern to the joint involvement but does not always correlate with the degree of apparent inflammation. Generalized stiffness is frequent and is usually greatest after periods of inactivity. Morning stiffness of greater than one hour duration is an almost invariable feature of inflammatory arthritis and may serve to distinguish it from various non-inflammatory joint disorders. Recent evidence suggests, however, that the presence of morning stiffness may not reliably distinguish between chronic inflammatory and non-inflammatory arthritides, as it is also found frequently in the latter. The majority of patients will experience constitutional symptoms such as weakness, easy fatigability, anorexia, and weight loss. Although fever to 40⁰C occurs on occasion, temperature elevation in excess of 38⁰C is unusual and suggests the presence of an undercurrent problem such as infection.

Clinically, synovial inflammation causes swelling, tenderness and limitation of motion. Warmth is usually evident on examination, especially of large joints such as

the knee, but erythema is infrequent. Pain originates predominantly from the joint capsule, which is abundantly supplied with pain fibers and is markedly sensitive to stretching or distention. Joint swelling results from accumulation of synovial fluid, hypertrophy of the synovium, and thickening of the joint capsule. Initially, motion is limited by pain. The inflamed joint is usually held in flexion to maximize joint volume and minimize distention of the capsule. Later, fibrous or bony ankylosis or soft tissue contractures lead to fixed deformities.

Although inflammation can affect any diarthrodial joint, rheumatoid arthritis most often causes symmetric arthritis with characteristic involvement of certain specific joints such as the proximal interphalangeal and metacarpophalangeal joints. The distal interphalangeal joints are rarely involved. Synovitis of the wrist joints is a nearly uniform feature of rheumatoid arthritis and may to limitation of motion, deformity, and median nerve entrapment (carpal tunnel syndrome). Synovitis of the elbow joint often leads to flexion contractures that may develop early in the disease. The knee joint is commonly involved with synovial hypertrophy, chronic effusion, and frequently ligamentous laxity. Pain and swelling behind the knee may be caused by extension of inflamed synovium into the popliteal space (Baker's cyst). Arthritis in the forefoot, ankles, and subtalar joints can produce severe pain with ambulation as well as a number of deformities. Axial involvement is usually limited to the upper cervical spine. Involvement of the lumbar spine is not seen, and lower back pain cannot be ascribed to rheumatoid inflammation. On occasion, inflammation from the synovial joints and bursae of the upper cervical spine leads to atlantoaxial subluxation. This usually presents as pain in the occiput but on rare occasions may lead to compression of the spinal cord.

With persistent inflammation, a variety of characteristic deformities develop. These can be attributed to a number of pathologic events, including laxity of supporting soft tissue structures, destruction or weakening of ligaments, tendons, and the joint capsule; cartilage destruction; muscle imbalance; and unopposed physical forces associated with the use of affected joints.

Characteristic deformities of the hand include -

- 1) Radial deviation at the wrist with ulnar deviation of the digits often with palmar subluxation of the proximal phalanges ("Z" deformity).
- 2) Hyperextension of the proximal interphalangeal joints, with compensatory flexion of the distal interphalangeal joints (Swan-neck deformity).
- 3) Flexion deformity of the proximal interphalangeal joints and extension of the distal interphalangeal joints (Boutonniere deformity) and
- 4) Hyperextension of the first interphalangeal joint and flexion of the first metacarpophalangeal joint with a consequent loss of thumb mobility and pinch. Typical deformities also may develop in the feet including eversion at the hindfoot (subtalar joint), plantar subluxation of the metatarsal heads, widening of the forefoot, hallux valgus and lateral deviation and dorsal subluxation of the toes.

Rheumatoid Arthritis - Patterns of Onset :

- A]** Insidious - most common (70%)
Acute (10-15%)
Systemic (10%)
Palindromic - least common (50%)
- B]** Oligoarticular (45-50%)
Polyarticular (30-3%)
Monoarticular (20-25%)

Rheumatoid Arthritis Functional Grading :

- | | | |
|-----------|---|---|
| Grade I | - | No handicap |
| | - | Can carry on all daily activities |
| Grade II | - | Moderate restriction of activities but independent. |
| Grade III | - | Marked restriction of activities mostly limited to self care. |
| | - | Needs assistance |
| Grade IV | - | Bed or chair bound. |
| | - | Incapitated and dependent. |

EXTRA-ARTICULAR MANIFESTATIONS :

Rheumatoid arthritis is a systemic disease with a variety of extra-articular manifestations. Although these occur frequently, not all of them have clinical significance. However, on occasion, they may be the major evidence of disease activity and source of morbidity and require management per se. As a rule, these manifestations occur in individuals with high titers of autoantibodies to the Fe component of immunoglobulin G (rheumatoid factors).

Rheumatoid nodules develop in 20 to 30 percent of persons with rheumatoid arthritis. They are usually found on periarticular structures, extensor surfaces, or other areas subjected to mechanical pressure, but they can develop elsewhere, including the pleura and meninges. Common locations include the olecranon bursa, the proximal ulna, the Achilles tendon, and the occiput. Nodules vary in size and consistency and are rarely symptomatic, but on occasion they break down as a result of trauma or become infected. They are found almost invariably in individuals with circulating rheumatoid factor. Histological, rheumatoid nodules consist of a central zone of necrotic material including collagen fibrils, noncollagenous filaments, and cellular debris; a midzone of palisading macrophages that express HLA-DR antigens; and an outer zone of granulation tissue. Examination of early nodules has suggested that the initial event may be a focal vasculitis.

Clinical weakness and atrophy of skeletal muscle are common. Muscle atrophy may be evident within weeks of the onset of rheumatoid arthritis and usually is most apparent in musculature approximating affected joints. Muscle biopsy may show type II fiber atrophy and muscle fiber necrosis with or without a mononuclear cell infiltrate.

Rheumatoid vasculitis, which can affect nearly any organ system, is seen in patients with severe rheumatoid arthritis and high titers of circulating rheumatoid factor. Rheumatoid vasculitis is very uncommon in African Americans. In its most aggressive form, rheumatoid vasculitis can cause polyneuropathy and mononeuritis multiplex, cutaneous ulceration and dermal necrosis, digital gangrene, and visceral infarction. While such widespread vasculitis is very rare, more limited forms are not uncommon, especially in white patients with high titers or rheumatoid factor.

Neurovascular disease presenting either as a mild distal sensory neuropathy or as mononeuritis multiplex may be the only sign of vasculitis. Cutaneous vasculitis usually presents as crops of small brown spots in the nail beds, nail folds, and digital pulp. Larger ischemic ulcers, especially in the lower extremity, also may develop. Myocardial infarction secondary to rheumatoid vasculitis has been reported, as has vasculitic involvement of lungs, bowel, liver, spleen, pancreas, lymph nodes and testes. Renal vasculitis is rare.

Pleuropulmonary manifestations, which are more commonly observed in men, include pleural disease, interstitial fibrosis, pleuropulmonary nodules, pneumonitis, and arteritis. Evidence of pleuritis is found commonly at autopsy, but symptomatic disease during life is infrequent. Typically, the pleural fluid contains very low levels of glucose in the absence of infection. Pleural fluid complement is also low compared with the serum level when these are related to the total protein concentration. Pulmonary fibrosis can produce impairment of the diffusing capacity of the lung. Pulmonary nodules may appear singly or in clusters. When they appear in individuals with pneumoconiosis, a diffuse nodular fibrotic process (Caplan's syndrome) may develop. On occasion, pulmonary nodules may cavitate and produce a pneumothorax or bronchopleural fistula. Rarely, pulmonary hypertension secondary to obliteration of the pulmonary vasculature occurs. In addition to pleuropulmonary disease, upper airway obstruction from cricoarytenoid arthritis or laryngeal nodules may develop.

Clinically apparent heart disease attributed to the rheumatoid process is rare, but evidence of asymptomatic pericarditis is found at autopsy in 50 percent of cases. Pericardial fluid has a low glucose level and is frequently associated with the occurrence of pleural effusion. Although pericarditis is usually asymptomatic, on rare occasions death has occurred from tamponade. Chronic constrictive pericarditis also may occur.

Rheumatoid arthritis tends to spare the central nervous system directly, although vasculitis can cause peripheral neuropathy. Neurologic manifestations also may result from atlantoaxial or midcervical spine subluxations. Nerve entrapment

secondary to proliferative synovitis or joint deformities may produce neuropathies of median, ulnar, radial (interosseous branch) or anterior tibial nerves.

The **rheumatoid process involves the eye** in less than 1 percent of patients. Affected individuals usually have long-standing disease and nodules. The two principal manifestations are episcleritis, which is usually mild and transient, and scleritis, which involves the deeper layers of the eye and is a more serious inflammatory condition. Histologically, the lesion is similar to a rheumatoid nodule and may result in thinning and perforation of the globe (scleromalacia perforans). Fifteen to twenty percent of persons with rheumatoid arthritis may develop Sjogren's syndrome with attendant keratoconjunctivitis sicca.

Felty's syndrome consists of chronic rheumatoid arthritis, splenomegaly, neutropenia, and on occasion anaemia and thrombocytopenia. It is most common in individuals with long standing disease. These patients frequently have high titers of rheumatoid factor, subcutaneous nodules, and other manifestations of systemic rheumatoid disease. Felty's syndrome is very uncommon in African Americans. It may develop after joint inflammation has regressed. Circulating immune complexes are often present, and evidence of complement consumption may be seen. The leukopenia is a selective neutropenia with polymorphonuclear leukocyte counts of less than 1500 cells per microliter and sometimes less than 1000 cells per microliter. Bone marrow examination usually reveals moderate hyper-cellularity with a paucity of mature neutrophils. However, the bone marrow may be normal, hyperactive, or hypoactive; maturation arrest may be seen. Hypersplenism has been proposed as one of the causes of leukopenia, but splenomegaly is not invariably found and splenectomy does not always correct the abnormality. Excessive margination of granulocytes caused by antibodies to these cells, complement activation, or binding of immune complexes may contribute to granulocytopenia. Patients with Felty's syndrome have increased frequency of infections usually associated with neutropenia. The cause of the increased susceptibility to infection is related to the defective function of polymorphonuclear leukocytes as well as the decreased number of cells.

Salient Features of Felty's Syndrome :

- * Age - Middle age
- * Sex - F > M
- * Features of rheumatoid arthritis
- * Splenomegaly
- * Lymphadenopathy
- * Features of vasculitis
- * WBC, platelet and RBC counts diminished
- * Rheumatoid factor positive
- * LFT deranged

Osteoporosis secondary to rheumatoid involvement is common and may be aggravated by glucocorticoid therapy. Glucocorticoid treatment may cause significant loss of bone mass, especially early in the course of therapy, even when low doses are employed. Osteopenia involves both juxta-articular bone and long bones distant from involved joints. Rheumatoid arthritis is associated with a modest decrease in mean bone mass and a moderate increase in the risk of fracture. Bone mass appears to be adversely affected by functional impairment and active inflammation, especially early in the course of the disease.

RHEUMATOID IN THE ELDERLY :

The incidence of rheumatoid arthritis continues to increase past age 60. It has been suggested that elderly onset rheumatoid arthritis might have a poorer prognosis, as manifested by more persistent disease activity, more frequent radiographically evident deterioration, more frequent systemic involvement, and more rapid functional decline. Aggressive disease is largely restricted to those patients with high titers of rheumatoid factor. By contrast, elderly patients who develop rheumatoid arthritis without elevated titers of rheumatoid factor (seronegative disease) generally have less severe, often self-limited disease.

Rheumatoid arthritis of the elderly is a subset seen in the age group of 60 years and above. The disease is more aggressive when rheumatoid factor is positive. Some elderly rheumatoid arthritis may present with RS3PE syndrome (remitting

symmetrical seronegative synovitis with pitting oedema) manifesting with pitting oedema of the feet and at times hands. Arthritis robustus is seen in athletes and physical labourers who have proliferative synovitis with little pain but with bulky subcutaneous nodules.

Extra-articular Manifestations of Rheumatoid Arthritis :

- Systemic :**
- * Low grade fever
 - * Loss of appetite
 - * Loss of weight
 - * Fatigue

Musculoskeletal :

- * Muscle wasting
- * Bursitis
- * Tenosynovitis

- Skin :**
- * Subcutaneous nodules
 - * Vasculitis
 - * Ulcers
 - * Gangrene
 - * Pyoderma gangrenosum
 - * Nail fold infarcts

- Eye :**
- * Sicca syndrome
 - * Episcleritis
 - * Scleritis
 - * Scleromalacia

- Respiratory :**
- * Pleural effusion
 - * Fibrosing alveolitis
 - * Nodules
 - * Bronchiolitis
 - * Caplan's syndrome

- Cardiac :**
- * Pericarditis
 - * Myocarditis
 - * Endocarditis

- * Aortitis / aortic regurgitation

- * Conduction disturbances

Haematological / Reticuloendothelial :

- * Anaemia

- * Thrombocytosis

- * Eosinophilia

- * Felty's syndrome

- * Splenomegaly

Neurological : * Entrapment syndomes

- * Cervical compression

- * Peripheral neuritis

- * Mononeuritis multiplex

Others : * Systemic vasculitis (skin, CNS, Lungs, etc.)

- * Amyloidosis

LABORATORY FINDINGS :

No tests are specific for diagnosing rheumatoid arthritis. However, rheumatoid factors, which are auto-antibodies reactive with the Fe portion of IgG, are found in more than two-thirds of adults with the disease. Widely utilized tests largely detect IgM rheumatoid factors. The presence of rheumatoid factor is not specific for rheumatoid arthritis. Rheumatoid factor is found in 5 percent of healthy persons. The frequency of rheumatoid factor in the general population increases with age, and 10 to 20 percent of individuals over 65 years old have a positive test. In addition, a number of conditions besides rheumatoid arthritis are associated with the presence of rheumatoid factor. These include systemic lupus erythematosus, Sjogren's syndrome, chronic liver disease, sarcoidosis, interstitial pulmonary fibrosis, infectious mononucleosis, hepatitis B, tuberculosis, leprosy, syphilis, subacute bacterial endocarditis, visceral leishmaniasis, schistosomiasis, and malaria. In addition, rheumatoid factor may appear transiently in normal individuals after vaccination or transfusion and also may be found in relatives of individuals with rheumatoid arthritis.

The presence of **rheumatoid factor** does not establish the diagnosis of rheumatoid arthritis but can be of prognostic significance because patients with high titers tend to have more severe and progressive disease with extra-articular manifestations. Rheumatoid factor is uniformly found in patients with nodules or vasculitis. The predictive value of the presence of rheumatoid factor in determining a diagnosis of rheumatoid arthritis is poor. Thus less than one-third of unselected patients with a positive test for rheumatoid factor will be found to have rheumatoid arthritis. The test is not useful as a screening procedure but can be employed to confirm a diagnosis in individuals with a suggestive clinical presentation and, if present in high titer, to designate patients at risk for severe systemic disease.

Normochromic, normocytic anaemia is frequently present in active rheumatoid arthritis. It is thought to reflect ineffective erythropoiesis, large stores of iron are found in the bone marrow. In general, anaemia and thrombocytosis correlate with disease activity. The white blood cell count is usually normal, but a mild leukocytosis may be present. Leukopenia also may exist without the full-blown picture of Felty's syndrome. Eosinophilia, when present, usually reflects severe systemic disease.

The **erythrocyte sedimentation rate** (ESR) is increased in nearly all patients with active rheumatoid arthritis. The levels of a variety of other acute phase reactants including ceruloplasmin and C-reactive protein are also elevated, and generally such elevations correlate with disease activity and the likelihood of progressive joint damage.

Synovial fluid analysis confirms the presence of inflammatory arthritis, although none of the findings is specific. The fluid is usually turbid, with reduced viscosity, increased protein content, and a slightly decreased or normal glucose concentration. The white cell count varies between 5 and 50,000 cells per microliter; polymorphonuclear leukocytes predominate. A synovial fluid white blood cell count of more than 2000 cells per microliter with more than 75 % polymorphonuclear leukocytes is highly characteristic of inflammatory arthritis, although not diagnostic of rheumatoid arthritis. Total hemolytic complement, C3 and C4 are markedly diminished in synovial fluid relative to total protein concentrations as a result of

activation of the classic complement pathway by locally produced immune complexes.

In cases of doubt synovial fluid may provide valuable information when infection is suspected, fluid should be cultured and inoculated into guinea pigs. In gout, uric acid crystal may be seen on microscopic examination. Fluid from traumatic or degenerative forms of arthritis is clear, viscid, does not clot and contains few cells. In rheumatoid arthritis as pyogenic infection the fluid is of low viscosity turbid, clots on standing and contains many cells.

SENSITISED SHEEP CELL TEST :

A serological test has become available which has proved valuable in diagnosis of a typical form of rheumatoid arthritis it is known as the Rose Waales sensitized sheep cell test and is positive in 65-90% of cases of rheumatoid arthritis. It depends on the presence in the sera of a factor which agglutinates sheep erythrocyte sensitized with anti-sheep cell antibody produced in the rabbit. The test is also positive in 25-30% of patient with disseminated lupus erythematosus and in 15-20% of cases of Juvenile rheumatoid arthritis (still disease) latex particle coated with human gamma globulin form the basis of a simplified but less specific serological test.

RADIOGRAPHIC EVALUATION :

Early in the disease, roentgenograms of the affected joints are usually not helpful in establishing a diagnosis. They reveal only that which is apparent from physical examination, namely, evidence of soft tissue swelling and joint effusion. As the disease progresses, abnormalities become more pronounced, but none of the radiographic findings is diagnostic of rheumatoid arthritis. The diagnosis, however, is supported by a characteristic pattern of abnormalities, including the tendency toward symmetric involvement. Juxtaarticular osteopenia may become apparent within weeks of onset. Loss of articular cartilage and bone erosions develop after months of sustained activity. The primary value of radiography is to determine the extent of cartilage destruction and bone erosion produced by the disease, particularly when one is monitoring the impact of therapy with disease modifying drugs or surgical

intervention. Other means of imaging bones and joints, including ^{99m}Tc bisphosphonate bone scanning and magnetic resonance imaging, may be capable of detecting early inflammatory changes that are not apparent from standard radiography but are rarely necessary in the routine evaluation of patients with rheumatoid arthritis.

Radiological Progression of Rheumatoid Arthritis :

- | | | |
|------------------|---|--|
| Stage I | - | Juxta-articular osteoporosis |
| Stage II | - | Reduction / loss of joint space |
| Stage III | - | Juxta-articular erosions |
| Stage IV | - | Deformities, subluxation, ankylosis, geodes. |

CLINICAL COURSE AND PROGNOSIS :

The course of rheumatoid arthritis is quite variable and difficult to predict in an individual patient. Most patients experience persistent but fluctuating disease activity, accompanied by a variable degree of joint abnormalities and functional impairment. After 10 to 12 years, fewer than 20 percent of patients will have no evidence of disability or joint abnormalities. A number of features are correlated with a greater likelihood of developing joint abnormalities or disability. These include the presence of more than 20 inflamed joints, a markedly elevated erythrocyte sedimentation rate, radiographic evidence of bone erosions, the presence of rheumatoid nodules, high titers of serum rheumatoid factor, the presence of functional disability, persistent inflammation, advanced age at onset, the presence of comorbid conditions, low socio-economic status or educational level, or the presence of HLA-DRb1*0401 or -DRb*0404. The presence of one or more of these implies the presence of more aggressive disease with a greater likelihood of developing progressive joint abnormalities and disability. Patients who lack these features have more indolent disease with a slower progression to joint abnormalities and disability. The pattern of disease onset does not appear to predict the development of disabilities. Approximately 15 percent of patients with Rheumatoid Arthritis will have a short-lived inflammatory process that remits without major disability. These individuals tend to lack the aforementioned features associated with more aggressive disease.

Several features of patients with Rheumatoid arthritis appear to have prognostic significance. Remissions of disease activity are most likely to occur during the first year. White females tend to have more persistent synovitis and more progressively erosive disease than males. Persons who present with high titers of rheumatoid factor, C-reactive protein, and heptoglobin also have a worse prognosis, as do individuals with subcutaneous nodules or radiographic evidence of erosions at the time of initial evaluation. Although sustained disease activity of more than 1 year's duration portends a poor outcome, the rate of progression of joint abnormalities is not constant; the greatest progression takes place during the first 6 years of disease and at a much slower rate thereafter. Indeed, the rate of progression of joint damage is greater during the first year of observation compared with the second and third years. Within 3 years of disease, as many as 70 percent of patients will have some radiographic evidence of damage to joints; more than 50 percent of these persons will have had evidence of erosions in the first year of disease. Foot joints are affected more frequently than hand joints. Despite the decrease in the rate of progressive joint damage with time, functional disability, which develops early in the course of the disease, continues to worsen at the same rate, although the most rapid rate of functional loss occurs within the first 2 years of disease.

The median life expectancy of persons with rheumatoid arthritis is shortened by 3 to 7 years. Of the 2.5 fold increase in mortality rate, rheumatoid arthritis itself is a contributing feature in 15 to 30 percent. The increased mortality rate seems to be limited to patients with more severe articular disease and can be attributed largely to infection and gastrointestinal bleeding. Drug therapy also may play a role in the increased mortality rate seen in these individuals. Factors correlated with early death include disability, disease duration or severity, glucocorticoid use, age at onset, and low socio-economic or educational status.

DIAGNOSIS :

The mean delay from disease onset to diagnosis is 9 months. This is often related to the nonspecific nature of initial symptoms. The diagnosis of rheumatoid arthritis is easily made in persons with typical established disease. In a majority of

patients, the disease assumes its characteristic clinical features within 1 to 2 years of onset. The typical picture of bilateral symmetric inflammatory polyarthritis involving small and large joints in both the upper and lower extremities with sparing of the axial skeleton except the cervical spine suggests the diagnosis. Constitutional features indicative of the inflammatory nature of the disease, such as morning stiffness, support the diagnosis. Demonstration of subcutaneous nodules is a helpful diagnostic feature.

THE 1987 REVISED CRITERIA FOR THE CLASSIFICATION OF RHEUMATOID ARTHRITIS :

1. GUIDELINES FOR CLASSIFICATION

- a. Four of seven criteria are required to classify a patient as having rheumatoid arthritis.
- b. Patients with two or more clinical diagnoses are not excluded.

2. CRITERIA

- a. Morning stiffness - Stiffness in and around the joints lasting 1 hour before maximal improvement.
- b. Arthritis of three or more joint areas - At least three joint areas, observed by a physician simultaneously, have soft tissue swelling or joint effusions, not just bony overgrowth. The 14 possible joint areas involved are right or left proximal interphalangeal, metacarpophalangeal, wrist, elbow, knee, ankle and metatarsophalangeal joints.
- c. Arthritis of hand joints - Arthritis of wrist, metacarpophalangeal joint, or proximal interphalangeal joint.
- d. Symmetric arthritis - Simultaneous involvement of the same joint areas on both sides of the body.
- e. Rheumatoid nodules - Subcutaneous nodules over bony prominences, extensor surface, or juxtaarticular regions observed by a physician.

- f. Serum rheumatoid factor - Demonstration of abnormal amounts of serum rheumatoid factor by any method for which the result has been positive in less than 5 percent of normal control subjects.
- g. Radiographic changes - Typical changes of Rheumatoid arthritis on postero-anterior hand and wrist radiographs which must include erosions or unequivocal bony decalcification localized in or most marked adjacent to the involved joints.

Additionally, the presence of rheumatoid factor, inflammatory synovial fluid with increased numbers of polymorphonuclear leukocytes, and radiographic findings of juxta-articular bone demineralization and erosions of the affected joints substantiate the diagnosis.

The diagnosis is somewhat more difficult early in the course when only constitutional symptoms or intermittent arthralgias or arthritis in an asymmetric distribution may be present. A period of observation may be necessary before the diagnosis can be established. A definitive diagnosis of rheumatoid arthritis depends predominantly on characteristic clinical features and the exclusion of other inflammatory processes. The isolated finding of a positive test for rheumatoid factor or an elevated erythrocyte sedimentation rate, especially in an older person with joint pains, should not itself be used as evidence of rheumatoid arthritis.

In 1987, the American College of Rheumatology, developed revised criteria for the classification of rheumatoid arthritis. These criteria demonstrate a sensitivity of 91 to 94 percent and a specificity of 89 percent when used to classify patients with rheumatoid arthritis compared with control subjects with rheumatic diseases other than rheumatoid arthritis. Although these criteria were developed as a means of disease classification for epidemiologic purposes, they are useful as guidelines for establishing the diagnosis. Failure to meet these criteria, however, especially during the early stages of the disease, does not exclude the diagnosis.

SALIENT POINTS FOR DISEASE ACTIVITY ASSESSMENT :

Clinical :

- * Severity of pain
- * Duration of early morning stiffness
- * Joint pain score (number of inflamed joints)

Investigations :

- * Haemoglobin
- * ESR
- * Other acute phase reactants (e.g. CRP)

IMPORTANT FEATURES OF RHEUMATOID ARTHRITIS :

- * Fever, loss of weight
- * Morning stiffness
- * Symmetrical involvement of small joints of hands and feet
- * May be monoarticular (large joint)
- * Deformities of hands (chronic cases)
- * Muscle wasting, bursitis, tenosynovitis
- * Rheumatoid nodules
- * Features of vasculitis (ulcers, nail changes, neuritis, pyoderma)
- * Presence of rheumatoid factor
- * Eosinophilia, anaemia
- * Splenomegaly, lymphadenopathy (Felty's syndrome)
- * Episcleritis, scleromalacia, kerato-conjunctivitis sicca (Sjogren's syndrome)
- * Pericarditis, endocarditis, myocarditis, aortitis, aortic incompetence, coronary vasculitis, heart block
- * Pleural effusion, nodules, bronchiolitis, fibrosing alveolitis
- * Mononeuritis multiplex, cervical cord compression
- * Amyloidosis
- * X-ray joints - Narrowing, deformities
Chest - Fibrosing alveolitis, bronchiolitis, pleural effusion.

TREATMENT :

GENERAL PRINCIPLES :

The goals of therapy of rheumatoid arthritis are -

1. Relief of pain
2. Reduction of inflammation
3. Protection of articular structures
4. Maintenance of function, and
5. Control of systemic involvement.

Since the etiology of rheumatoid arthritis is unknown, the pathogenesis is speculative, and the mechanisms of action of many of the therapeutic agents employed are uncertain, therapy remains empirical. None of the therapeutic interventions is curative, and therefore all must be viewed as palliative, aimed at relieving the signs and symptoms of the disease. The various therapies employed are directed at nonspecific suppression of the inflammatory or immunologic process in the hope of ameliorating symptoms and preventing progressive damage to articular structures.

Management of patients with rheumatoid arthritis involves an interdisciplinary approach, which attempts to deal with the various problems that these individuals encounter with functional as well as psychosocial interactions. A variety of physical therapy modalities may be useful in decreasing the symptoms of rheumatoid arthritis. Rest ameliorates symptoms and can be an important component of the total therapeutic program. In addition, splinting to reduce unwanted motion of inflamed joints may be useful. Exercise directed at maintaining muscle strength and joint mobility without exacerbating joint inflammation is also an important aspect of the therapeutic regimen.

A variety of orthotic and assistive devices can be helpful in supporting and aligning deformed joints to reduce pain and improve function. Patient and family education is an important component of the therapeutic plan to help those involved become aware of the potential impact of the disease and make appropriate accommodations in life-style to maximize satisfaction and minimize stress on joints.

Medical management of rheumatoid arthritis involves four general approaches. The first is the use of aspirin and other nonsteroidal anti-inflammatory drugs (NSAIDs) and simple analgesics to control the symptoms and signs of the local inflammatory process. These agents are rapidly effective at mitigating signs and symptoms, but they appear to exert minimal effect on the progression of the disease. The second line of therapy involves use of low-dose oral glucocorticoids. Although these agents have been widely used to suppress signs and symptoms of inflammation, recent evidence suggests that low-dose oral glucocorticoids may also retard the development and progression of bone erosions. The third line of agents includes a variety of agents that have been classified as the disease modifying or slow-acting anti-rheumatic drugs. These agents appear to have the capacity to decrease elevated levels of acute phase reactants in treated patients and therefore, are thought to modify the destructive capacity of the disease. Other agents are the immunosuppressive and cytotoxic drugs that have been shown to ameliorate the disease process in some patients. The fourth approach involves the use of intraarticular glucocorticoids that can provide transient relief when systemic medical therapy has failed to resolve inflammation. A final approach that can be entertained when standard therapy has failed to control disease activity involves the use of a variety of investigational therapies, including combinations of disease modifying anti-rheumatic drugs (DMARDs) and other more experimental agents. Recently, substituting omega-3 fatty acids such as eicosapentaenoic acid found in certain fish oils for dietary omega-6 essential fatty acids found in meat also has been shown to provide symptomatic improvement in patients with rheumatoid arthritis. A variety of nontraditional approaches also have been claimed to be effective in treating rheumatoid arthritis, including diets, plant and animal extracts, vaccines, hormones, and topical preparations of various sorts. Many of these are costly, and none has been shown to be effective. However, belief in their efficacy ensures their continued use by some patients.

NONSTEROIDAL ANTI-INFLAMMATORY DRUGS :

Besides aspirin, there are now several additional NSAIDs available to treat rheumatoid arthritis. As a result of the capacity of these agents to block the activity of the enzyme cyclooxygenase and therefore the production of prostaglandins, prostacyclin, and thromboxanes, they have analgesic, anti-inflammatory, and antipyretic properties. In addition, the agents may exert other anti-inflammatory effects. These agents are all associated with a wide spectrum of toxic side effects. Some, such as gastric irritation, azotemia, platelet dysfunction, and exacerbation of allergic rhinitis and asthma, are related to the inhibition of cyclooxygenase activity, while a variety of others, such as rash, liver function abnormalities, and bone marrow depression, may not be. Elderly patients on diuretics may be at higher risk for certain toxic effects. None of the NSAIDs has been shown to be more effective than aspirin in the treatment of rheumatoid arthritis. However, these nonaspirin drugs are associated with a lower incidence of gastrointestinal intolerance. None of the newer NSAIDs appears to show significant therapeutic advantages over the other available agents. In addition, there is no consistent advantage of any of these newer agents over the others with respect to the incidence or severity of toxic manifestations. Recent evidence indicates that two separate enzymes, cyclooxygenase 1 and 2, are responsible for the initial metabolism of arachidonic acid into various inflammatory mediators. The former is constitutively present in many cells and tissues, including the stomach and the platelet, whereas the latter is specifically induced in response to inflammatory stimuli. Inhibition of cyclooxygenase 2 accounts for the anti-inflammatory effects of NSAIDs, and suppression of cyclooxygenase 1 induces much of the mechanism based toxicity. As the currently available NSAIDs inhibit both enzymes, therapeutic benefit and toxicity are intertwined. Newer, specific cyclooxygenase 2 inhibitors are being developed that promise therapeutic benefit with less toxicity.

NON STEROIDAL ANTI-INFLAMMATORY DRUGS - ADVERSE REACTIONS :***I. Gastrointestinal tract :***

- * Stomatitis

- * Oesophagitis
- * Gastritis, dyspepsia
- * Peptic ulcer, perforation, haemorrhage
- * Small bowel ulceration / perforation
- * Colitis

II. Renal :

- * Fluid retention
- * Acute renal failure
- * Interstitial nephritis
- * Papillary necrosis
- * Hyponatraemia
- * Hyperkalaemia
- * Transient rise in serum creatinine

III. Cardiovascular :

- * Interference with actions of anti-hypertensive and anti-cardiac failure drugs

IV. Hepatic :

- * Enzymitis
- * Cholestasis
- * Rarely hepatic failure

V. CNS :

- * Headache
- * Tinnitus
- * Cognitive disturbances
- * Insomnia
- * Abnormal behaviour
- * Aseptic meningitis (ibuprofen)

VI. Skin :

- * Rashes
- * Erythema multiforme
- * Toxic epidermal necrolysis

VII. Haematological :

- * Bone marrow suppression
- * Anaemia secondary to GI blood loss
- * Thrombocytopenia

DISEASE MODIFYING ANTI-RHEUMATIC DRUGS :

Clinical experience has delineated a number of agents that appear to have the capacity to alter the course of rheumatoid arthritis. This group of agents includes gold compounds, D-penicillamine, the antimalarials, and sulfasalazine. Despite having no chemical or pharmacologic similarities, in practice these agents share a number of characteristics. They exert minimal direct nonspecific anti-inflammatory or analgesic effects, and therefore NSAIDs must be continued during their administration, except in a few cases when true remissions are induced with them. The appearance of benefit from DMARD therapy is usually delayed for weeks or months. As many as two-thirds of patients develop some clinical improvement as a result of therapy with any of these agents, although the induction of true remissions is unusual. In addition to clinical improvement, there is frequently an improvement in serologic evidence of disease activity, and titers of rheumatoid factor and C-reactive protein and the erythrocyte sedimentation rate frequently decline. Despite this, there is minimal evidence that DMARDs actually retard the development of bone erosions or facilitate their healing.

Each of these drugs is associated with considerable toxicity, and therefore careful patient monitoring is necessary. Which DMARD should be the drug of first choice remains controversial, and trials have failed to demonstrate a consistent advantage of one over the other. Toxicity of the various agents thus becomes important in determining the drug of first choice. Failure to respond or development of toxicity to one agent does not preclude responsiveness to another. For example, a similar percentage of rheumatoid arthritis patients who have failed to respond to gold will respond to D-penicillamine when it is given as the second disease modifying drug.

No characteristic features of patients have emerged that predict responsiveness to a DMARD. Moreover, the indications for the initiation of therapy with one of these agents are not well defined, although recently the trend has been to begin DMARD therapy early in the course of the disease.

The folic acid antagonist methotrexate, given in an intermittent low dose (7.5 to 20 mg once weekly), is currently a frequently utilized DMARD. Most rheumatologists recommend use of methotrexate as the initial DMARD, especially in individuals with evidence of aggressive rheumatoid arthritis. Recent trials have documented the efficacy of methotrexate and have indicated that its onset of action is more rapid than other DMARDs, and patients tend to remain on therapy with methotrexate longer than they remain on other DMARDs because of better clinical responses and less toxicity. Long term trials have indicated that methotrexate does not induce remission but rather suppresses symptoms while it is being administered. Maximal improvement is observed after 6 months of therapy, with little additional improvement thereafter. Major toxicity includes gastrointestinal upset, oral ulceration, and liver function abnormalities that appear to be dose-related and reversible and hepatic fibrosis that can be quite insidious, requiring liver biopsy for detection in its early stages. Drug induced pneumonitis also has been reported. Liver biopsy is recommended for individuals with persistent or repetitive liver function abnormalities. Concurrent administration of folic acid or folinic acid may diminish the frequency of some side effects.

GLUCOCORTICOID THERAPY :

Systemic glucocorticoid therapy can provide effective symptomatic therapy in patients with rheumatoid arthritis. Low-dose (less than 7.5 mg/d) prednisone has been advocated as useful additive therapy to control symptoms. Moreover, recent evidence suggests that low-dose glucocorticoid therapy may retard the progression of bone erosions. Monthly pulses with high-dose glucocorticoids may be useful in some patients and may hasten the response when therapy with a DMARD is initiated.

IMMUNOSUPPRESSIVE THERAPY :

The immunosuppressive drugs azathioprine and cyclophosphamide have been shown to be effective in the treatment of rheumatoid arthritis and to exert therapeutic effects similar to those of the DMARDs. However, these agents appear to be no more effective than the DMARDs. Moreover, they cause a variety of toxic side effects, and cyclophosphamide appears to predispose the patient to the development of malignant neoplasms. Therefore, these drugs have been reserved for patients who have clearly

failed therapy with DMARDs. On occasion, extraarticular disease such as rheumatoid vasculitis may require cytotoxic immunosuppressive therapy.

Recent trials have suggested that cyclosporine also may be effective in the treatment of rheumatoid arthritis. Although high-dose therapy may induce rapid improvement, it is associated with frequent renal and gastrointestinal toxicity. Lower doses of cyclosporine (< 5mg/kg per day), however, appear to cause slower but nonetheless significant improvement in disease activity with fewer toxic side effects that are reversed upon lowering the dose. In addition, concomitant use of methotrexate and cyclosporine may afford additional benefit. Currently, cyclosporine has not been approved for use in rheumatoid arthritis.

SURGERY :

Surgery plays a role in the management of patients with severely damaged joints. Although arthroplasties and total joint replacements can be done on a number of joints, the most successful procedures are carried out on hips, knees, and shoulders. Realistic goals of these procedures are relief of pain and reduction of disability. Reconstructive hand surgery may lead to cosmetic improvement and some functional benefit. Open or arthroscopic synovectomy may be useful in some patients with persistent monoarthritis, especially of the knee. Although synovectomy may offer short-term relief of symptoms, it does not appear to retard bone destruction or alter the natural history of the disease. In addition, early tenosynovectomy of the wrist may prevent tendon rupture.

APPROACH TO THE PATIENT WITH RHEUMATOID ARTHRITIS :

An approach to the medical management of patients with rheumatoid arthritis is depicted. The principles underlying care of these patients reflect the variability of the disease, the frequent persistent nature of the inflammation and its potential to cause disability, the relationship between sustained inflammation and bone erosions, and the need to reevaluate the patient frequently for symptomatic response to therapy, progression of disability and joint damage, and side effects of treatment. At the onset of disease it is difficult to predict the natural history of an individual patient's illness. Therefore, the usual approach is to attempt to alleviate the patient's symptoms with NSAIDs. Some patients may have mild disease that requires no additional therapy.

At some time during most patient's course, the possibility of initiating DMARD therapy and or low-dose oral glucocorticoids is entertained. With aggressive disease this might occur sooner, often within 1 to 3 months of diagnosis, whereas in patients with more indolent disease, smoldering activity may not require such therapy for many years. The development of bone erosions or radiographic evidence of cartilage loss is clear-cut evidence of the destructive potential of the inflammatory process and indicates the need for DMARD therapy. The other indications as outlined above, including persistent pain, joint swelling, or functional impairment, are much more subjective, however. The decision to begin use of a DMARD and / or low-dose oral glucocorticoids requires experience and clinical judgment as well as the ability to assess joint swelling and functional activity and the patient's pain tolerance and expectation of therapy accurately. In this setting, the fully informed patient must play an active role in the decision to begin DMARD and / or low-dose oral glucocorticoid therapy, after careful review of the therapeutic and toxic potential of the various drugs.

In a patient responds to a DMARD, therapy is continued with careful monitoring to avoid toxicity. All DMARDs provide a suppressive effect and therefore require prolonged administration. Even with successful therapy, local injection of glucocorticoids may be necessary to diminish inflammation that may persist in a limited number of joints. In addition, NSAIDs may be necessary to mitigate symptoms. Even after inflammation has totally resolved, symptoms from loss of cartilage and supervening degenerative joint disease or deformities may require additional treatment. Surgery also may be necessary to relieve pain or diminish the functional impairment secondary to deformity. Only when patients have persistent inflammatory disease or severe extra-articular manifestations are the use of cytotoxic immunosuppressive drugs or experimental procedures justified. Recently an alternative approach to treat patients with rheumatoid arthritis has been suggested. This involves the initiation of therapy with multiple agents early in the course of disease in an attempt to control inflammation, followed by maintenance on one or more agents as necessary to control disease activity. The effectiveness of this therapeutic alternative has not been proven.